॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

नारदपरिव्राजकोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

प्रथम उपदेश

नारद-शौनक-संवाद

एक समयकी बात है, परिव्राजकोंके समुदायको सुशोभित करनेवाले नारदजी सब लोकोंमें विचरण कर रहे थे। उन्होंने अपूर्व-अपूर्व पुण्य-स्थलों एवं पुण्य-तीर्थोंमें जाकर उन्हें और भी पवित्र बनाया और उन तीर्थोंके दर्शनसे स्वयं भी चित्तशुद्धि प्राप्त की। उनके मनमें कहीं किसी भी प्राणीके प्रति वैरका भाव नहीं था। उनका मन शान्त था और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ वशमें हो गयी थीं। वे सब ओरसे विरक्त होकर अपने स्वरूपके अनुसंधानमें लगे हुए थे। घूमते-घूमते वे नैमिषारण्यमें आये, जो नियमजनित आनन्दके कारण विशेषरूपसे गणना करनेयोग्य पवित्र तीर्थ है। वह स्थान असंख्य मुनिजनोंसे भरा हुआ था। उन्होंने उस पुण्यस्थलीका दर्शन किया। वे अपनी वीणाके तारोंसे वैराग्यबोधक 'स रि ग म प ध नि' इन स्वरविशेषोंका झंकार कर रहे थे। वे जागतिक चर्चासे दूर रहकर मुखसे भगवान्‌की मधुर कथाके गीत अलाप रहे थे। उन्हें सुनकर स्थावर-जङ्गम सभी प्राणी आनन्दसे झूम उठते थे। वे उस भक्तिप्रधान संगीतसे मनुष्य, मृग, किम्पुरुष, देवता, किंनर तथा अप्सराओंको भी मोहित कर रहे थे। नैमिषारण्यमें बारह वर्षोंका सत्रयाग चल रहा था। उसमें वेदाध्ययनसे सम्पन्न, सर्वज्ञ, तपस्यामें संलग्न रहनेवाले और ज्ञान-वैराग्यसे विभूषित शौनक आदि महर्षि सम्मिलित हुए थे। उन्होंने परम भागवत ब्रह्मकुमार देवर्षि नारदको आया देख उनकी अगवानी की। उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया और यथायोग्य अतिथि-सत्कार करके उन्हें एक सुन्दर आसनपर बैठाया। फिर स्वयं भी सब लोग यथास्थान बैठ गये। तत्पश्चात् शौनक आदि महर्षियोंने विनयपूर्वक उनसे पूछा—'भगवन्! ब्रह्मकुमार नारदजी! संसार-बन्धनसे मुक्ति कैसे होती है? उस मुक्तिका उपाय क्या है—यह हमलोगोंको बतानेकी कृपा करें'॥ १॥

उनके इस प्रकार प्रश्न करनेपर वे त्रिभुवनप्रसिद्ध देवर्षि नारदजी इस प्रकार बोले—'उत्तम कुलमें उत्पन्न पुरुष यदि उपनयन-संस्कारसे युक्त न हुआ हो तो पहले विधिपूर्वक उपनयन-संस्कार कराये। फिर चौवालीस* संस्कारोंसे सम्पन्न और अपने मनके अनुरूप एक गुरुके समीप निवास करे। वहाँ गुरुकी सेवा करते हुए पहले अपनी शाखाका अध्ययन करे। फिर क्रमशः सम्पूर्ण विद्याओंका अभ्यास करते हुए बारह वर्षोंतक गुरु-सेवापूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करे। तत्पश्चात् क्रमशः पचीस

---

* चौवालीस संस्कार इस प्रकार हैं—(१) गर्भाधान, (२) पुंसवन, (३)सीमन्तोन्नयन, (४) विष्णुबलि, (५) जातकर्म, (६) नामकरण, (७) उपनिष्क्रमण, (८) अन्नप्राशन, (९) चूडाकर्म, (१०) कर्णवेध, (११) अक्षरारम्भ, (१२) उपनयन, (१३) व्रतारम्भ, (१४) समावर्तन, (१५) विवाह, (१६) उपाकर्म, (१७) उत्सर्जन।

सप्त पाकयज्ञ-संस्था

(१८) हुत, (१९) प्रहुत, (२०) आहुत, (२१) शूलगव, (२२) बलिहरण, (२३) प्रत्यवरोहण, (२४) अष्टकाहोम।

वर्षोंतक गृहस्थ-धर्मका और पचीस वर्षोंतक वानप्रस्थ-आश्रमके धर्मोंका विधिपूर्वक पालन करे। चार प्रकारके ब्रह्मचर्य,[१] छः प्रकारके गार्हस्थ्य[२] तथा चार प्रकारके वानप्रस्थ[३] धर्मका भलीभाँति अभ्यास करके उन-उन आश्रमोंके उचित समस्त कर्मोंका यथावत् अनुष्ठान करे। फिर साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न हो समस्त संसारसे ऊपर उठकर मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा सब प्रकारकी आशाको त्याग दे। इसी प्रकार वासनाओं और एषणाओंके भी ऊपर उठे—उनका भी त्याग कर दे। फिर सबके प्रति वैरभावका त्याग करके मन और इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए संन्यासी हो जाय। परमहंस-आश्रम (संन्यास)-में रहकर अपने अच्युतस्वरूपका चिन्तन करते हुए जो शरीर-त्याग करता है, वह मुक्त हो जाता है, वह मुक्त हो जाता है। यह उपनिषद् (गूढ़ रहस्यमय ज्ञान) है'॥ २॥

॥ प्रथम उपदेश समाप्त॥ १॥

द्वितीय उपदेश

संन्यास-ग्रहणका क्रम

तदनन्तर वे शौनक आदि सम्पूर्ण महर्षि इन भगवान् नारदजीसे विनयपूर्वक बोले—'भगवन्! हमें संन्यासकी विधि बताइये।' नारदजीने उनकी ओर देखकर कहा—'संन्यासका सारा स्वरूप लोकपितामह ब्रह्माजीके मुखसे ही समझना उचित होगा।' यों कहकर सत्रयागकी पूर्तिके पश्चात् उन सबको साथ ले वे सत्यलोकमें गये और विधिवत् ब्रह्मचिन्तनमें लगे हुए परमेष्ठीको प्रणाम करके उनकी स्तुति करने लगे। स्तुति करनेके अनन्तर पितामहकी आज्ञासे वे सबके साथ वहाँ यथायोग्य आसनपर बैठे। तदनन्तर नारदजीने पितामहसे कहा—"भगवन्! आप हमारे गुरु, पिता, सम्पूर्ण विद्याओंके रहस्यको जाननेवाले तथा सर्वज्ञ हैं। अतः आप मुझे एक रहस्यकी बात, जो मुझे बहुत प्रिय है, बतलानेकी कृपा करें। आपके सिवा दूसरा कौन है, जो मेरे अभीष्ट रहस्यका भलीभाँति प्रतिपादन कर

सप्त हविर्यज्ञ-संस्था

(२५) अग्न्याधान, (२६) अग्निहोत्र, (२७) दर्श-पूर्णमास, (२८) चातुर्मास्य, (२९) आग्रयणेष्टि, (३०) निरूढपशुबन्ध, (३१) सौत्रामणी।

सप्त सोमयज्ञ-संस्था

(३२) अग्निष्टोम, (३३) अत्यग्निष्टोम, (३४) उक्थ्य, (३५) षोडशी, (३६) वाजपेय, (३७) अतिरात्र, (३८) आप्तोर्याम, (३९) वानप्रस्थ, (४०) संन्यास—ये तो चालीस संस्कार हैं; इनके साथ शौच, संतोष, तप और स्वाध्याय—ये चार और गिन लेनेसे चौवालीस संस्कार होते हैं।

१. चार प्रकारके ब्रह्मचारी ये हैं—गायत्र, ब्राह्म, प्राजापत्य तथा बृहन्। इनमेंसे उपनयनके बाद जो तीन राततक बिना नमकका भोजन करके गायत्रीका जप करता है, वह गायत्र है; जो वेदाध्ययनपर्यन्त ब्रह्मचर्यका पालन करता है, वह ब्राह्म है, जो एक वर्षतक वैदिकव्रत (ब्रह्मचर्य)-का पालन करता है, वह प्राजापत्य कहलाता है और जो मृत्युपर्यन्त गुरुकुलमें रहकर ब्रह्मचर्यका पालन करता है, वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी बृहन् कहा गया है।

२. छः प्रकारके गृहस्थोंके नाम ये हैं—वार्ताक, शालीन, यायावर, घोर संन्यासिक, उञ्छवृत्ति और अयाचित। इनमें जो खेती, गो-रक्षा और वाणिज्यरूप वैश्योचित वृत्तिसे जीवन-निर्वाह करते हुए स्वधर्मका पालन करता है, वह वार्ताक कहलाता है; जो यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह—इन छः कर्मोंमें संलग्न रहकर याजन, अध्यापन और प्रतिग्रहके द्वारा जीवन-निर्वाह करता है, वह शालीन माना गया है; जो सत्पुरुषोंके घरोंपर जा-जाकर उनसे थोड़ा-थोड़ा माँगकर अपने कुटुम्बके भरण-पोषणके लिये आवश्यक अन्नका संग्रह करता है, वह यायावर कहलाता है; जो अपने हाथसे निकाले हुए पवित्र जलसे सब कार्य करते हुए प्रतिदिन साधुपुरुषोंसे एक दिनके निर्वाहके लिये अन्न ग्रहण करता है, वह घोर संन्यासिक है; जो खेत कट जानेपर या बाजार उठ जानेपर वहाँ बिखरे हुए अनाजके दानोंको चुन-चुनकर लाता है और उन्हींसे जीवन-निर्वाह करता है, उसे उञ्छ कहते हैं और जो किसीसे याचना न करके दैवेच्छासे प्राप्त हुए अन्नपर ही जीवन-निर्वाह करता है, वह अयाचक कहलाता है।

३. वानप्रस्थके भी चार भेद हैं—वैखानस, औदुम्बर, वालखिल्य और फेनप। इनमेंसे जो बिना जोते-बोये उत्पन्न हुए नीवार आदि जंगली अन्नोंसे अग्निहोत्र आदि कर्म करता है, वह वैखानस कहलाता है; जो सबेरे उठते ही जिस दिशाकी ओर दृष्टि जाय, उसी दिशामें जाकर वहाँके गूलर, बेर आदि फलों तथा नीवार और श्यामाक आदि अन्नोंका संग्रह करके उन्हींसे प्रतिदिन जीविका चलाता है, वह औदुम्बर माना गया है; जो जटा और वल्कल धारण करके आठ महीनोंतक वृत्ति उपार्जन करता, चौमासेमें संगृहीत अन्नका भोजन करता तथा कार्तिकी पूर्णिमाको संगृहीत फूल और फलका त्याग करता है, वह वालखिल्य कहलाता है तथा जो सूखे पत्ते और फलका आहार करते हुए जहाँ-कहीं भी रहकर अपने कर्तव्यका पालन करता है, उसे फेनप कहते हैं।

सके। यदि कहें, 'पूछो, वह तुम्हारा अभीष्ट विषय क्या है?' तो सुनिये। मेरी प्रार्थना है कि यहाँ बैठे हुए हम सब लोगोंसे आप संन्यासके स्वरूप और क्रमका वर्णन करें।'

इस प्रकार नारदजीके प्रार्थना करनेपर ब्रह्माजीने सब ओर दृष्टिपात करके सबको देखा और दो घड़ीतक वे जन्म-मृत्युरूप सांसारिक क्लेशके निवारणका उपाय ढूँढ़नेके लिये समाधिनिष्ठ हो गये। समाधिके द्वारा किसी निश्चयपर पहुँचकर ब्रह्माजीने पुनः नारदजीकी ओर देखा और इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया—

'बेटा नारद! पूर्वकालमें पुरुषसूक्त और उपनिषदोंमें वर्णित गूढ़ रहस्यके अनुरूप सर्वोत्कृष्ट दिव्य विग्रह धारण करनेवाले भगवान् विराट् पुरुषने जिस रहस्यका उपदेश मुझे दिया था, उसीको सोच-विचारकर मैं तुम्हें बतलाता हूँ। संन्यासका स्वरूप और क्रम अत्यन्त गूढ़ है। अतः तुम पूर्ण सावधान होकर उसे सुनो। नारद! उत्तम कुलमें उत्पन्न और माता-पिताकी आज्ञाके अधीन रहनेवाला बालक यदि उपनयन-संस्कारसे सम्पन्न न हुआ हो तो सबसे पहले विधिपूर्वक उसका उपनयन-संस्कार होना चाहिये। तत्पश्चात् वह अपने पिताके समीपसे अन्यत्र किसी उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए सद्गुरुकी सेवामें उपस्थित होवे। वे सद्गुरु किसी श्रेष्ठ सम्प्रदायमें स्थित, श्रद्धालु, श्रोत्रिय, शास्त्रके प्रति अनुराग रखनेवाले, गुणवान् तथा सरल हों। उनके पास पहुँचकर शिष्य गुरुके चरणोंमें नमस्कार करे और आवश्यक सेवा-शुश्रूषाके अनन्तर गुरुको अपना अभीष्ट बताये। फिर बारह वर्षोंतक गुरुकी सेवा करते हुए सम्पूर्ण विद्याओंका अभ्यास करे। अध्ययन समाप्त करके गुरुकी आज्ञासे किसी ऐसी कन्याके साथ विवाह करे, जो उसके कुलके योग्य तथा मनके अनुरूप हो। फिर पचीस वर्षोंतक गुरुकुलवास करके गुरुकी आज्ञासे गृहस्थोचित कर्म करते हुए,—ब्राह्मणोंके लिये जो दोषकी बातें हैं, उनका त्याग करके—अपने वंशकी वृद्धिके उद्देश्यसे एक पुत्र उत्पन्न करे और गृहस्थोचित पचीस वर्ष व्यतीत करनेके अनन्तर वानप्रस्थका आश्रय ले। उसमें भी पचीस वर्षोंतक तीनों समय स्नान करते हुए दिनके चौथे पहरमें एक बार भोजन करे, अकेला होकर ही वनमें रहे, ग्राम और नगरके पूर्वपरिचित मार्गोंको छोड़ दे और बिना जोते-बोये उत्पन्न तिन्नीके चावल आदि संग्रह करके उसीके द्वारा आश्रमोचित धर्मका निर्वाह करते हुए, दृष्ट और श्रुत, लोक और परलोकके भोगोंसे पूर्णतः विरक्त हो जाय। चालीस संस्कारोंसे सम्पन्न हो, सब ओरसे वैराग्य धारणकर चित्तशुद्धि प्राप्त करे और आशा, असूया, ईर्ष्या (दोषदृष्टि) तथा अहङ्कार आदि दोषोंको भस्म करके साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न होवे। ऐसा होनेपर वह संन्यास लेनेका अधिकारी हो जाता है। यह उपनिषद् है'॥ १-२॥

॥ द्वितीय उपदेश समाप्त॥ २॥

तृतीय उपदेश

संन्यासके अधिकारी, स्वरूप, विधि, नियम एवं आचार आदिका निरूपण

तदनन्तर देवर्षि नारदने अपने पिता ब्रह्माजीसे पूछा—'भगवन्! किस प्रकार संन्यास लिया जाता है? तथा संन्यासका अधिकारी कौन है?' ब्रह्माजीने कहा—'अच्छा, पहले संन्यासका अधिकारी कौन है, इसका निरूपण करके, पश्चात् संन्यासकी विधि बतायी जायगी; सावधान होकर सुनो। नपुंसक, पतित, किसी अङ्गसे हीन, स्त्रीके प्रति अधिक आसक्त, बहरा, बालक, गूँगा, पाखण्डी, चक्री (षड्यन्त्रकारी), लिङ्गी (वेषधारी), वैखानसहर द्विज, वेतन लेकर अध्यापन करनेवाला, शिपिविष्ट (गंजा अथवा कोढ़ी) तथा अग्निहोत्र न करनेवाला—ये वैराग्यवान् होनेपर भी संन्यासके अधिकारी नहीं हैं। यदि संन्यास ले भी लें, तो भी '**तत्त्वमसि**' इत्यादि महावाक्योंका उपदेश प्राप्त करनेके अधिकारी नहीं होते। जो पहलेसे ही संन्यासी है, अर्थात् कर्मफलकी इच्छा न रखते हुए वर्णाश्रमोचित कर्तव्यका पालन करता है, वही संन्यास-आश्रममें प्रवेश करनेका अधिकारी है'॥ १॥

'जो दूसरोंसे स्वयं नहीं डरता तथा दूसरोंको अपने द्वारा भय नहीं पहुँचाता, वही परिव्राजक (संन्यासी) है—ऐसा स्मृतियोंका कथन है। नपुंसक, किसी अङ्गसे हीन, अन्धा, बालक, पापी, पतित, परस्त्रीगामी, वैखानसहर द्विज, चक्री, लिङ्गी, पाखण्डी, शिपिविष्ट, अग्निहोत्र न करनेवाला, दो-तीन बार संन्यास ग्रहण करनेवाला तथा वेतन लेकर अध्यापन करनेवाला—ये आतुर-संन्यासके सिवा क्रम-संन्यासके अधिकारी नहीं होते'॥ २—४॥

'यदि कहो, आतुर संन्यासका कौन-सा समय विद्वानोंको मान्य है, तो सुनो। जब प्राण निकलनेका समय अत्यन्त

निकट हो, वह आतुर-संन्यासका ठीक समय माना गया है। इससे भिन्न समयको ठीक नहीं माना गया है। आतुर-संन्यास यदि ठीक समयसे हो तो वह मुक्तिमार्गकी प्राप्ति करानेवाला होता है। आतुर-संन्यासमें भी विद्वान् पुरुष शास्त्रविहित मन्त्रोंका पाठ करते हुए विधिवत् सब आवश्यक कृत्य करके ही मन्त्रोच्चारणपूर्वक संन्यास ग्रहण करे। आतुर-संन्यास हो चाहे क्रम-संन्यास, उसके विधि-विधानमें कोई भेद नहीं है; क्योंकि कर्म मन्त्रकी अपेक्षा करता है और कोई भी मन्त्र ऐसा नहीं है, जो किसी-न-किसी कर्मसे सम्बन्ध न रखता हो। मन्त्रहीन कर्म वास्तवमें कर्म ही नहीं है। अतः मन्त्रका परित्याग न करे। यदि मन्त्रके बिना कर्म करे तो वह राखमें छोड़ी हुई आहुतिके समान व्यर्थ होता है। मुने! शास्त्रविधिके अनुसार बताये हुए कर्मको संक्षेपमें करनेसे आतुर-संन्यास सम्पन्न होता है। इसलिये आतुर-संन्यासमें मन्त्रोंका बार-बार उच्चारण आवश्यक एवं विहित है'॥ ५—९॥

'यदि अग्निहोत्री पुरुष देशान्तरमें गया हुआ हो और उसे वैराग्य हो जाय तो जलमें ही प्राजापत्येष्टि करके तत्काल संन्यास ले ले। यह प्राजापत्य याग केवल मनसे करे अथवा विधिमें बताये अनुसार मन्त्रोंका उच्चारणमात्र करके करे अथवा वेदोक्त अनुष्ठान-पद्धतिके अनुसार विधिवत् कर्म-अनुष्ठान करे। यह सब करके ही विद्वान् पुरुष संन्यास ग्रहण करे। अन्यथा वह पतित हो जाता है'॥ १०-११॥

'जब मनमें सब पदार्थोंकी ओरसे पूर्ण वैराग्य हो जाय, तभी संन्यासकी इच्छा करनी चाहिये। इसके विपरीत आचरण करनेसे मनुष्य पतित हो जाता है। विरक्त बुद्धिमान् संन्यास ग्रहण करे और रागवान् पुरुष घरपर ही निवास करे। जो मनमें राग (आसक्ति) होते हुए भी संन्यास ग्रहण करता है, वह द्विजोंमें अधम है तथा उसे नरककी प्राप्ति होती है'॥ १२-१३॥

'जिसकी जिह्वा, शिश्नेन्द्रिय, उदर और हाथ आदि सभी इन्द्रियाँ भलीभाँति वशमें हों तथा जिसने विवाह न किया हो, ऐसा ब्रह्मचारी ब्राह्मण ही संन्यास ले। संसारको सारहीन समझकर सार वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छासे बुद्धिमान् पुरुष पूर्ण वैराग्यका आश्रय लेकर विवाह किये बिना ही संन्यास ले लेते हैं। कर्म ही प्रवृत्ति (संसारमें प्रवृत्त होने)-का लक्षण है और ज्ञान ही संन्यासका मुख्य लक्षण है। अतः बुद्धिमान् पुरुष ज्ञानको सामने रखकर ही यहाँ संन्यास ग्रहण करे'॥ १४—१६॥

'जब परमतत्त्वरूप सनातन ब्रह्मका ज्ञान हो जाय, तब एक दण्ड धारण करके यज्ञोपवीतसहित शिखाको त्याग दे। जो परमात्मामें अनुरक्त और उनसे भिन्न वस्तुओंकी ओरसे विरक्त है, जिसके मनसे लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा—ये सभी एषणाएँ निकल गयी हैं, वही भिक्षान्नभोजन करने (संन्यास लेने)-का अधिकारी है। जैसे साधारण मनुष्य अपनी पूजा और वन्दना होनेपर अत्यधिक प्रसन्न होता है, वैसी ही प्रसन्नता जब डंडोंसे पीटे जानेपर भी हो, तभी वह भिक्षु होनेका अधिकारी होता है। मैं ही वासुदेव नामसे प्रसिद्ध अद्वितीय अविनाशी ब्रह्म हूँ—ऐसा भाव जिसके मनमें दृढ़ हो गया है, वही भिक्षान्नभोजनका अधिकारी है। जिस पुरुषमें शान्ति, शम (मनोनिग्रह), दम (इन्द्रियनिग्रह), शौच, संतोष, सत्य, सरलता, कुछ भी संग्रह न करनेका भाव तथा दम्भका अभाव हो, वही संन्यास-आश्रममें प्रवेश करे। जब मनुष्य मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसी भी प्राणीके प्रति पापका भाव नहीं रखता, तभी संन्यासका अधिकारी होता है। (मनुप्रोक्त) दस प्रकारके धर्मोंका अनुष्ठान करते हुए एकाग्रचित्त हो विधिपूर्वक उपनिषदोंका श्रवण करे तथा ब्रह्मचर्य-पालन एवं स्वाध्यायद्वारा ऋषि-ऋणसे, यज्ञानुष्ठानद्वारा देव-ऋणसे और पुत्रकी उत्पत्तिद्वारा पितृ-ऋणसे मुक्त होकर (विरक्त) द्विज संन्यास ग्रहण करे। धृति, क्षमा, दम (मनोनिग्रह), अस्तेय (चोरी न करना), शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), इन्द्रियनिग्रह, ह्री (निषिद्ध कर्म एवं अविनय आदिसे स्वाभाविक संकोच), विद्या, सत्य तथा अक्रोध (क्रोधका अभाव)—ये दस धर्मके स्वरूप हैं। जो भूतकालमें किये हुए भोगोंका चिन्तन, भविष्यमें मिलनेवाले भोगोंकी आकाङ्क्षा तथा वर्तमान समयमें प्राप्त हुए भोगोंका अभिनन्दन नहीं करता, वही संन्यास-आश्रममें निवास कर सकता है। जो अन्तःकरणमें स्थित इन्द्रियोंको अपने भीतर और बाहरके विषयोंको बाहर ही रोक रखनेमें सदा समर्थ है, वही संन्यास-आश्रममें निवास करे। जैसे प्राण निकल जानेपर शरीर सुख-दुःखका अनुभव नहीं करता, उसी प्रकार प्राण रहते हुए भी जिसपर सुख-दुःखका प्रभाव नहीं पड़ता, वही संन्यास-आश्रममें निवास करनेका अधिकारी है'॥ १७—२७॥

'दो कौपीन (लँगोटियाँ), एक कन्था (गुदड़ी) और एक दण्ड—इतनी ही वस्तुओंका परमहंस संन्यासीको संग्रह करनेका अधिकार है; इससे अधिक संग्रहका उसके लिये विधान नहीं है। यदि रागवश अधिक वस्तुओंका संग्रह करता है तो यह मृत्युके पश्चात् रौरव नरकमें जाकर पुनः पशु-पक्षी आदि योनियोंमें जन्म लेता है। शीत आदिसे बचनेके लिये फटे-पुराने साफ कपड़ोंको सीकर एक गुदड़ी बना

ले और बस्तीसे बाहर रहकर गेरुए रंगका वस्त्र धारण करे। संन्यासी एक ही वस्त्र धारण करे अथवा बिना वस्त्रके ही (दिगम्बर) रहे। दृष्टिको इधर-उधर चारों ओर न ले जाकर एक ही स्थानपर नियन्त्रित रखे। मनमें किसी भी वस्तुके लिये लोभ न आने दे। सदा अकेला ही विचरण करे। वर्षा-ऋतुमें किसी एक ही स्थानपर निवास करे। कुटुम्ब, स्त्री-पुत्र, (व्याकरण आदि) वेदाङ्गोंके ग्रन्थ, यज्ञ और यज्ञोपवीतका त्याग करके संन्यासीको सर्वत्र गूढ़भावसे (बिना अपना विज्ञापन किये) विचरण करना चाहिये'॥ २८—३२॥

'काम, क्रोध, घमंड, लोभ और मोह आदि जितने भी दोष हैं, उन सबका परित्याग करके संन्यासी सब ओरसे ममताको हटा ले। अपने मनमें राग और द्वेषको स्थान न दे। मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णको समान समझे। प्राणियोंकी हिंसासे सर्वथा दूर रहे तथा सब ओरसे नि:स्पृह होकर मुनिवृत्तिसे रहे। जो दम्भ और अहङ्कारसे मुक्त है, हिंसा और चुगली आदि दोषोंसे दूर है तथा आत्मज्ञानके लिये उपयोगी गुणोंसे सुशोभित है, वह संन्यासी मोक्षको प्राप्त होता है। इन्द्रियोंकी विषयोंमें आसक्ति रहनेपर मनुष्य नि:संदेह अनेक प्रकारके दोषोंमें फँस जाता है; किंतु यदि उन्हीं इन्द्रियोंको अच्छी प्रकार वशमें कर ले तो वह (मोक्षरूप) सिद्धिको प्राप्त होता है। विषय-भोगोंकी कामना भोगोंके उपभोगसे कदापि शान्त नहीं होती। भोगसे तो वह उलटे बढ़ती ही है—ठीक उसी तरह, जैसे घी डालनेसे आग और भी प्रज्वलित हो उठती है। जो मधुर या कटु शब्द सुनकर, कोमल या कठोर वस्तुका स्पर्श कर, स्वादिष्ठ या स्वादहीन भोजन करके, सुन्दर या विकृत रूप देखकर और सुगन्ध या दुर्गन्ध सूँघकर न तो हर्षसे फूल उठता है और न ग्लानिका ही अनुभव करता है, उसीको जितेन्द्रिय जानना चाहिये। जिसके मन और वाणी शुद्ध हैं तथा सर्वदा भलीभाँति दोषोंसे सुरक्षित (बचे हुए) हैं, वही वेदान्तश्रवणका पूर्ण फल प्राप्त करता है। ब्राह्मण सम्मानसे विषकी भाँति उद्विग्न रहे और अपमानको अमृतकी भाँति समझकर सदा उसकी अभिलाषा करे। अपमानित पुरुष सुखसे सोता, सुखसे जागता और इस लोकमें सुखसे ही विचरता है; किंतु अपमान करनेवाला स्वत: नष्ट हो जाता है। अतिवादों (कठोर वचनों)-को सहन करे, किसीका अनादर न करे तथा इस (नश्वर) देहको लेकर किसीके साथ वैर न करे। जो अपने ऊपर क्रोध करता है, उसके प्रति बदलेमें क्रोध न करे। यदि वह गाली देता हो तो भी स्वयं तो उसे अच्छी ही बात कहे। दो नेत्र, दो कान, दो नासिकाछिद्र और एक मुख—इन सातों द्वारोंके अनुभवसे सम्बन्ध रखनेवाली वाणीको कभी असत्यरूपमें न बोले। सुख चाहनेवाला पुरुष अध्यात्मतत्त्वमें अनुराग रखकर स्थिरभावसे बैठे, किसीसे कोई अपेक्षा न रखे, मनसे सब तरहकी कामनाओंको निकाल दे तथा अपने सिवा किसी दूसरेको सहायक न बनाकर अकेला ही इस संसारमें विचरता रहे। इन्द्रियोंको वशमें रखने, राग-द्वेषका नाश करने तथा किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनेसे मनुष्य अमृतत्व (मोक्ष)-का अधिकारी होता है। यह शरीर रोगोंका घर है, इसमें हड्डियोंके खंभे लगे हैं। स्नायुजालकी डोरीसे यह बँधा है। मांस और रक्त इसपर थोप दिया गया है। इसे चमड़ेसे मढ़ दिया गया है। यह मल और मूत्रसे सदा ही पूर्ण रहता है। इससे दुर्गन्ध निकलती रहती है। बुढ़ापे और शोकसे व्याप्त होनेके कारण यह सदा आतुर (असमर्थ) रहता है। वीर्य और रजसे उत्पन्न होनेके कारण यह रजस्वल (रजोगुणी अथवा धूलसे भरा हुआ) है। साथ ही यह अनित्य भी है (आज गिरेगा या कल, इसका कुछ भी ठिकाना नहीं है)। इसमें पाँच भूत सदा ही डेरा डाले रहते हैं; अत: इसे त्याग दे (इसके प्रति अहंता और ममता न रखे)। यदि मूर्ख मनुष्य मांस, रक्त, पीब, मल, मूत्र, नाड़ी, मज्जा और हड्डियोंके समुदायभूत इस शरीरसे प्रेम करता है तो वह नरकसे भी अवश्य प्रेम करेगा। इस शरीरमें जो अहंभाव है, वही कालसूत्र नामक नरकका मार्ग है, वही महावीचि नामक नरकमें ले जानेके लिये बिछा हुआ जाल है तथा वही असिपत्रवन नामक नरककी श्रेणी है। शरीरमें होनेवाली अहंता कुत्तेका मांस लेकर चलनेवाली चाण्डालिनीके समान है। उसको सब प्रकारके यत्नोंद्वारा त्याग दे। सर्वनाश उपस्थित हो तो भी कल्याणकामी पुरुषको उसका स्पर्शतक नहीं करना चाहिये। अपने प्रियजनोंमें सुकृत (पुण्य)-को और अप्रियजनोंमें दुष्कृत (पाप)-को छोड़कर—स्वयं उनसे सम्बन्ध न रखकर ध्यानयोगके द्वारा साधक सनातन ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार धीरे-धीरे सम्पूर्ण आसक्तियोंका त्याग करके संन्यासी पुरुष सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे मुक्त हो परब्रह्म परमात्मामें ही स्थिति प्राप्त करता है। सिद्धिलाभके लिये किसी दूसरेको साथी न बनाकर सदा अकेला ही विचरण करे। एककी सिद्धि देखकर संन्यासी न तो अपने साधनको छोड़ता है और न सिद्धिसे वञ्चित होता है'॥ ३३—५३॥

'पानी पीनेके लिये कपाल (लकड़ी या नारियलका पात्र), रहनेके लिये किसी वृक्षकी जड़, पहननेको फटे पुराने कपड़े, सदा अकेले रहनेका स्वभाव और सबमें समताका भाव—यही जीवन्मुक्त पुरुषका लक्षण है। संन्यासी

सम्पूर्ण भूतोंका हितैषी हो, शान्तभावसे रहे, त्रिदण्ड और कमण्डलु धारण करे, एकमात्र आत्मामें ही रमण करनेवाला हो तथा सब कुछ छोड़कर अकेला घूमता रहे। केवल भिक्षाके लिये ही वह गाँवमें प्रवेश करे। संन्यासी यदि अकेला रहे, तभी वह शास्त्रीय आदेशके अनुसार यथार्थ भिक्षु होता है। एकसे दो होते ही वह 'मिथुन' (जोड़ा) माना गया है। तीनका समुदाय होनेपर उसे 'गाँव' कहा गया है तथा इससे अधिक व्यक्ति एक साथ हो जायँ, तब तो पूरा नगर-सा ही हो जाता है। संन्यासीको कभी अपने पास अधिक व्यक्तियोंको आनेका अवसर देकर नगर, गाँव अथवा मिथुनकी स्थिति नहीं उत्पन्न करनी चाहिये। इन तीनों (नगर, ग्राम और मिथुन)-का आयोजन करनेवाला संन्यासी अपने धर्मसे गिर जाता है। अनेक व्यक्तियोंका एकत्र संयोग होनेपर उनमें या तो राजा—प्रभु, सेठ आदिकी बातें होंगी अथवा कहाँ कैसी भिक्षा मिलती है—यह चर्चा शुरू हो जायगी अथवा परस्पर स्नेह, चुगली और मत्सरता आदिके भाव उत्पन्न होंगे। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। संन्यासी निःस्पृह होकर सदा अकेला रहे। किसीके साथ वार्तालाप न करे। वह सदा 'नारायण' कहकर ही दूसरोंकी बात या नमस्कार आदिका उत्तर दे। वह एकाकी रहकर मन, वाणी, शरीर तथा क्रियाद्वारा केवल ब्रह्मका ही चिन्तन करे। किसी तरह भी मृत्यु या जीवनका अभिनन्दन न करे। जबतक आयु पूरी न हो, तबतक केवल कालकी ही प्रतीक्षा करता रहे। न तो वह मृत्युकी प्रशंसा करे और न जीवनका अभिनन्दन करे। जैसे भृत्य अपने स्वामीकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करता रहता है, उसी प्रकार वह एकमात्र कालकी प्रतीक्षा करे। अजिह्व (जिह्वारहित), नपुंसक, लूला, अन्धा, बहिरा एवं मुग्ध (जड)-की भाँति रहनेवाला भिक्षु—इन छः प्रकारके गुणोंसे निश्चय ही मुक्त हो जाता है। जो भोजन करते हुए भी 'यह स्वादिष्ठ है, यह स्वादयुक्त नहीं है।' इस भावसे अन्नके रसमें आसक्त नहीं होता तथा हितकर, सत्य और नपी-तुली बात कहता है, उसे 'अजिह्व' (जिह्वारहित) कहते हैं। जो आजकी जन्मी हुई नवजात कन्या, सोलह वर्षोंकी युवती नारी तथा सौ वर्षोंकी आयुवाली वृद्धा स्त्रीको देखकर कहीं भी राग-द्वेष आदि विकारोंके वशीभूत नहीं होता, वह 'षण्डक' (नपुंसक) कहा गया है। भिक्षाके लिये तथा मल-मूत्रका त्याग करनेके लिये ही जिसका घूमना होता है और एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानेके लिये भी जो प्रतिदिन एक योजन (चार कोस)-से आगे नहीं जाता (एक योजनका रास्ता तै करके शेष समय ध्यान आदिमें व्यतीत करता है), वह 'पङ्गु' (लूला) ही है। चलते या खड़ा होते समय जिसके नेत्र चार युग (लगभग दस हाथ) भूमि छोड़कर इससे अधिक दूरतक नहीं देखते, वह संन्यासी 'अन्ध' कहलाता है। हितकी बात हो या अहितकी, मनको सुख देनेवाली बात हो या शोक प्रदान करनेवाली, उसे सुनकर भी जो मानो नहीं सुनता (उसपर ध्यान नहीं देता), वह 'बधिर' कहा गया है। विषय अपने समीप हों, शरीरमें शक्ति हो और सभी इन्द्रियाँ स्वस्थ हों, तब भी जो सोये हुए पुरुषकी भाँति उन विषयोंके प्रति आकृष्ट नहीं होता, उस भिक्षुको 'मुग्ध' (भोलाभाला) कहते हैं'॥ ५४—६८॥

'नट आदिके खेल, जुआ, युवती स्त्री, सम्बन्धियों, भक्ष्य-भोज्य पदार्थ तथा रजस्वला स्त्री—इन छः वस्तुओंकी ओर संन्यासी कभी दृष्टिपात न करे। राग, द्वेष, मद, माया, दूसरोंके प्रति द्रोह तथा अपनोंके प्रति मोह—इन छः बातोंको संन्यासी कभी मनसे भी न सोचे। मञ्च (कुर्सी), श्वेत वस्त्र, स्त्रियोंकी चर्चा, इन्द्रियोंकी लोलुपता, दिनमें सोना और सवारीपर चलना—ये संन्यासियोंके लिये छः पातक हैं। आत्मचिन्तन करनेवाला संन्यासी दूरकी यात्राका यत्नपूर्वक त्याग करे'॥ ६९—७१॥

'संन्यासी सदा मोक्षकी हेतुभूता उपनिषद्-विद्याका अभ्यास करे। वह न तो सदा तीर्थोंका सेवन करे और न अधिक उपवास ही करे। वह अधिक विद्याएँ पढ़नेका स्वभाव न बनाये। सभाओंमें व्याख्यान देनेवाला न बने। सदा ऐसा बर्ताव करे जिसमें पाप, शठता और कुटिलता न हो। जैसे कछुआ सब ओरसे अपने अङ्गोंको समेट लेता है, उसी प्रकार इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे समेटकर जो इन्द्रिय और मनके व्यापारको क्षीण कर देता है, कामना और परिग्रहसे मुँह मोड़ लेता है, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे हर्ष या शोकके वशीभूत नहीं होता, नमस्कार (भिन्न-भिन्न देवताओंकी स्तुति) और स्वधा (श्राद्ध-तर्पण)-को छोड़ देता है, ममता और अहङ्कारसे शून्य हो जाता है, किसी भी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखता, निष्काम तथा एकान्तसेवी हो जाता है, वह निश्चय ही संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है'॥ ७२—७६॥

'प्रमादरहित, कर्म, भक्ति एवं ज्ञानसे सम्पन्न तथा केवल आत्माके ही अधीन रहनेवाला साधक, चाहे वह—ब्रह्मचारी, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ—कोई भी क्यों न हो, वैराग्य होनेपर संन्यास ग्रहण कर सकता है। अथवा यदि वैराग्य मन्द होनेके कारण उन-उन आश्रमोंमें प्रधानतः आस्था बनी हुई हो तो पहले ब्रह्मचर्याश्रमकी अवधि पूरी

करके गृहस्थ बने, गृहस्थसे वानप्रस्थ हो जाय और वानप्रस्थ होनेके अनन्तर संन्यास ले अथवा तीव्र वैराग्य होनेपर ब्रह्मचर्य-आश्रमसे ही संन्यासमें प्रवेश करे या गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ-आश्रमसे संन्यास ग्रहण करे। अथवा ब्रह्मचारी हो या अब्रह्मचारी, स्नातक हो या न हो, अग्निहोत्र त्याग चुका हो या उससे अलग ही रहा हो—जिस दिन उसे वैराग्य हो, उसी दिन वह घर छोड़कर संन्यासी हो जाय। संन्यास-आश्रममें प्रवेशके समय कुछ विद्वान् प्राजापत्य नामक इष्टि करते हैं; उसे करे अथवा न करे अथवा केवल 'आग्नेयी' इष्टिका ही अनुष्ठान करे (अग्नि देवतासे सम्बन्ध रखनेके कारण यह इष्टि 'आग्नेयी' कहलाती है)। अग्नि ही प्राण है, अतः इस आग्नेयी इष्टिद्वारा साधक प्राणका ही पोषण करता है अथवा 'त्रैधातवीया' इष्टिका ही (जिसका इन्द्र देवतासे सम्बन्ध है) अनुष्ठान करे। सत्त्व, रज और तम— ये ही तीन धातु हैं, जिनका इस त्रैधातवीय इष्टिके द्वारा हवन किया जाता है। शास्त्रोक्त विधिसे इष्टि करके '**अयं ते योनिः....**'* इस मन्त्रसे अग्निको सूँघे। मन्त्रका अर्थ इस प्रकार है—'हे अग्निदेव! यह समष्टि प्राण तुम्हारे आविर्भावका कारण है। यह प्राण ही संवत्सरात्मक काल है, जिससे उत्पन्न होकर तुम उत्तम कान्तिसे देदीप्यमान हो रहे हो। अपनी उत्पत्तिके कारणभूत इस प्राणको जानकर तुम इसीमें स्थित हो जाओ और इस प्रकार हमारे प्राणसे तादात्म्य प्राप्त करके हमारे ज्ञानरूपी धनको बढ़ाओ।' निश्चय ही यह प्राण अग्निकी उत्पत्तिका कारण है। इसलिये '**प्राणं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहा**' (हे अग्निदेव! तुम प्राणको प्राप्त कर, अपने कारणको प्राप्त कर उसके साथ एक हो जाओ) इसी प्रकार यह मन्त्र कहता है। (इसी प्रकार साधक भी कहे।)'

'आहवनीय अग्निमेंसे ले जाकर पूर्वोक्त प्रकारसे इष्टि करके अग्निको सूँघे। यदि अग्नि न मिल सके तो जलमें ही हवन करे। 'निश्चय ही सम्पूर्ण देवता जलस्वरूप हैं। सम्पूर्ण देवताओंके लिये मैं हवन करता हूँ, यह उन्हें प्राप्त हो' (**आपो वै सर्वा देवताः सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहा**) यों कहकर हवन करे। फिर उस जलमेंसे थोड़ा-सा जल उठाकर उसका आचमन कर ले। वह घृतयुक्त जल आरोग्यकारक एवं मोक्षदायक होता है। फिर शिखा, यज्ञोपवीत, पिता, पुत्र, स्त्री, कर्म, अध्ययन एवं अन्यान्य मन्त्रोंका जप त्याग कर ही आत्मवेत्ता पुरुष परिव्राजक (संन्यासी) होता है। त्रैधातवीय मोक्षसम्बन्धी मन्त्रोंसे ब्रह्मको जाने। जो सत्य, ज्ञान आदि लक्षणोंसे युक्त है, वही ब्रह्म है, यही उपासनाके योग्य है। यह ठीक ऐसा ही है'॥ ७७—७९॥

नारदजीने ब्रह्माजीसे पुनः प्रश्न किया—'यज्ञोपवीत न रहनेपर वह ब्राह्मण कैसे रह सकता है?' तब ब्रह्माजीने उनसे कहा—'विद्वान् पुरुष शिखासहित सम्पूर्ण सिरके बालोंका मुण्डन कराके शरीरपर यज्ञोपवीतके रूपमें धारण किये जानेवाले बाह्य सूत्रको तो त्याग दे और जो अविनाशी परब्रह्म परमात्मा हैं, उन्हींको सबमें व्यापक सूत्ररूप समझकर अपने भीतर धारण करे। जो सूचन (ज्ञान)-का हेतु हो, उसे 'सूत्र' कहते हैं। अतः 'सूत्र' परमपदका नाम है। जिसने उस परमपदरूप सूत्रको जान लिया, वही वेदोंका पारगामी ब्राह्मण है। जैसे सूत्रमें मनके पिरोये हुए होते हैं उसी प्रकार जिस परमात्मामें यह सम्पूर्ण जगत् पिरोया हुआ है, वही सूत्र है। योगका ज्ञाता तत्त्वदर्शी योगी उसी सूत्रको धारण करे। विद्वान् पुरुष उत्तम योगका आश्रय ले बाह्य सूत्रका तो त्याग करे और इस ब्रह्मस्वरूप सूत्रको धारण करे। जो यों करता है, वही चेतन है। उस ब्रह्मरूप सूत्रके धारण करनेसे संन्यासी न तो कभी उच्छिष्ट (जूठे मुँह) होता है और न कभी अपवित्र ही होता है। ज्ञानरूपी यज्ञोपवीत धारण करनेवाले जिन संन्यासियोंके भीतर वह ब्रह्मरूपी सूत्र विद्यमान है, वे ही इस संसारमें सूत्रके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले तथा यज्ञोपवीतधारी हैं। संन्यासी ज्ञानमयी शिखा धारण करते हैं, ज्ञानमें ही स्थित होते हैं और ज्ञानका ही यज्ञोपवीत पहनते हैं। उनके लिये ज्ञान ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। ज्ञान ही सबसे पवित्र बताया गया है। जैसे अग्निकी शिखा उसके स्वरूपसे भिन्न नहीं होती, उसी प्रकार जिस विद्वान् संन्यासीने ज्ञानमयी शिखा धारण कर रखी है, वही शिखाधारी कहलाता है; दूसरे लोग, जो केवल केश धारण करते हैं, वास्तविक शिखाधारी नहीं हैं। जो ब्राह्मण आदि द्विज वैदिक कर्मके अधिकारी माने जाते हैं, उन्हींको यह बाह्य सूत्र—यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये; क्योंकि वह कर्मका अङ्ग माना गया है। जिसके ज्ञानमयी शिखा और ज्ञानमय ही यज्ञोपवीत है, उसीमें पूर्णरूपसे ब्राह्मणत्व प्रतिष्ठित है—ब्रह्मज्ञ पुरुष यही मानते हैं'॥ ८०—८९॥

'यह सब जानकर ब्राह्मण घरका त्याग करके संन्यासी हो जाय; एक वस्त्र धारण करे, सिरके बाल मुँडा ले और किसी भी वस्तुका संग्रह न करे। यदि शारीरिक क्लेश सहनेमें समर्थ न हो तो कौपीन आदि धारण करे। यदि वह शारीरिक

---

* अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचयाः। तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम्॥

क्लेश सह सकता हो तो विधिपूर्वक संन्यास ले दिगम्बर रहे। अपने पुत्र, मित्र, स्त्री, माननीय गुरुजन तथा भाई-बन्धु आदिको छोड़कर चला जाय, स्वाध्याय एवं वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानका त्याग करके समस्त ब्रह्माण्डके साथ सम्बन्ध त्याग दे। कौपीन, दण्ड और अङ्ग ढकनेका वस्त्र भी न रखे। सब प्रकारके द्वन्द्वोंका सहन करते हुए न सर्दीकी परवा करे न गरमीकी; न सुखके लिये लालायित हो और न दुःखसे भयभीत ही हो। निद्राकी भी चिन्ता न करे। मान-अपमानमें समान भावसे रहे। छहों ऊर्मियोंसे प्रभावित न हो। निन्दा, अहङ्कार, मत्सरता (डाह), गर्व, दम्भ, ईर्ष्या, असूया (दोषदृष्टि), इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि छोड़कर, अपने शरीरको मुर्देके समान मानकर, आत्मासे अतिरिक्त दूसरी किसी भी वस्तुको बाहर-भीतर न स्वीकार करते हुए, न तो किसीके सामने मस्तक झुकाये, न यज्ञ और श्राद्ध करे, न किसीकी निन्दा या स्तुति करे। अकेला ही स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करता रहे। दैवेच्छासे भोजन आदिके लिये जो कुछ भी मिल जाय, उसीपर संतुष्ट रहे। सुवर्ण आदिका संग्रह न करे। न किसीका आवाहन करे न विसर्जन। न मन्त्रका प्रयोग करे न मन्त्रका त्याग करे। न ध्यान करे न उपासना। न कोई लक्ष्य हो न लक्ष्यहीनता। न किसीसे अलग रहे, न संयुक्त। न किसी एक स्थानपर रहनेका आग्रह हो, न अन्यत्र जानेका। कोई उसका अपना घर या आश्रम न हो। उसकी बुद्धि सदा स्थिर रहे। जनशून्य भवन, वृक्षकी जड़, देवालय, घास-फूसकी कुटिया, कुलालशाला, अग्निहोत्रशाला, अग्निदिगन्तर, नदीतट, पुलिन (कछार), भूगृह (गुफा), पर्वतीय गुफा, झरनेके पास, चबूतरे या वेदीपर अथवा वनमें रहे। श्वेतकेतु, ऋभु, निदाघ, ऋषभ, दुर्वासा, संवर्तक, दत्तात्रेय तथा रैवतककी भाँति न कोई चिह्न धारण करे और न अपने आचारको ही किसीपर प्रकट होने दे। बालक, उन्मत्त अथवा पिशाचकी भाँति व्यवहार करे। उन्मत्त न होते हुए भी उन्मत्तकी भाँति आचरण करे। त्रिदण्ड, झोली, पात्र, कमण्डलु, कटिसूत्र और कौपीन—सब कुछ '**भूः स्वाहा**' कहकर जलमें छोड़ दे'॥ ९०॥

'कटिसूत्र, कौपीन, दण्ड, वस्त्र और कमण्डलु—सबको जलमें छोड़कर दिगम्बर होकर विचरे। आत्माका अनुसंधान करे। दिगम्बरकी भाँति रहकर द्वन्द्वोंको सहन करे—उनसे प्रभावित न हो। किसी भी वस्तुका संग्रह न करे। तत्त्व एवं ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाले ज्ञानमार्गमें भलीभाँति स्थित रहे। मनको शुद्ध रखे। प्राण-रक्षाके लिये उचित समयपर हाथरूपी पात्रसे अथवा और किसी पात्रसे बिना माँगे ही मिले हुए आहारको ग्रहण करे। लाभ-हानिको समान मानकर ममतासे रहित हो जाय। केवल ब्रह्मका चिन्तन करे। अध्यात्मचिन्तनमें ही निष्ठा रखे। शुभाशुभ कर्मोंका निर्मूलन करके अपने आत्माके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तुको सर्वथा त्याग दे। एकमात्र पूर्णानन्दस्वरूप परमात्माके बोधसे सम्पन्न हो, '**अहं ब्रह्मास्मि**' (वह ब्रह्म मैं ही हूँ) ऐसी निश्चित धारणा रखकर भ्रमरका चिन्तन करनेवाले कीटकी तरह केवल ब्रह्मस्वरूप प्रणवका ही चिन्तन करे। तीनों शरीरोंके प्रति अहंता और ममताका भाव त्यागकर, सर्वत्याग करके ही वह शरीरका त्याग करे। इस प्रकार करनेवाला संन्यासी कृतकृत्य होता है, यह उपनिषद् है'॥ ९१-९२॥

॥ तृतीय उपदेश समाप्त॥ ३॥

चतुर्थ उपदेश

संन्यास-धर्मके पालनका महत्त्व तथा संन्यास-ग्रहणकी शास्त्रीय विधि

'जो लोक, वेद, विषय-भोग तथा इन्द्रियोंकी अधीनता त्यागकर केवल आत्मामें ही स्थित रहता है, वह संन्यासी परमगतिको प्राप्त होता है। श्रेष्ठ संन्यासी नाम, गोत्र आदिके वरण देश, काल, शास्त्रज्ञान, कुल, अवस्था, आचार, व्रत और शीलका विज्ञापन न करे। किसी भी स्त्रीसे बातचीत न करे। पहलेकी देखी हुई किसी स्त्रीका स्मरणतक न करे, उनकी चर्चासे भी दूर रहे तथा स्त्रियोंका चित्र भी न देखे। सम्भाषण, स्मरण, चर्चा और चित्रावलोकन—स्त्रीसम्बन्धी इन चार बातोंका जो मोहवश आचरण करता है, उसके चित्तमें अवश्य ही विकार उत्पन्न होता है और उस विकारसे उसका धर्म निश्चय ही नष्ट हो जाता है। तृष्णा, क्रोध, असत्य, माया, लोभ, मोह, प्रिय, अप्रिय, शिल्पकला, व्याख्यानमें योग देना, कामना, राग, संग्रह, अहङ्कार, ममता, चिकित्साका व्यवसाय, धर्मके लिये साहसका कार्य, प्रायश्चित्त, दूसरोंके घरपर रहना, मन्त्र-प्रयोग, औषध वितरण, जहर देना, आशीर्वाद देना—ये सब संन्यासीके लिये निषिद्ध हैं। इनका सेवन करनेवाला संन्यासी अपने धर्मसे नीचे गिर जाता है। मोक्षधर्ममें तत्पर रहनेवाला मुनि (संन्यासी) अपने किसी सुहृद्के लिये भी

'आओ, जाओ, ठहरो' स्वागत और सम्मानकी बात न करे। भिक्षु स्वप्नमें भी कभी किसीका दिया हुआ दान न ले। दूसरेको भी न दिलाये और न स्वयं किसीको देने-लेनेके लिये प्रेरित ही करे। स्त्री, भाई, पुत्र आदि तथा अन्य बन्धु-बान्धवोंके शुभ या अशुभ समाचारको सुनकर या देखकर भी संन्यासी कभी कम्पित (विचलित) न हो; वह शोक और मोहको सर्वथा त्याग दे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (किसी वस्तुका संग्रह न करना), उद्दण्डताका अभाव, किसीके सामने दीन न बनना, स्वाभाविक प्रसन्नता, स्थिरता, सरलता, स्नेह न करना, गुरुकी सेवा करना, श्रद्धा, क्षमा, इन्द्रियसंयम, मनोनिग्रह, सबके प्रति उदासीनताका भाव, धीरता, स्वभावकी मधुरता, सहनशीलता, करुणा, लज्जा, ज्ञान-विज्ञान-परायणता, स्वल्प आहार तथा धारणा—यह मनको वशमें रखनेवाले संन्यासियोंका विख्यात सुधर्म है। द्वन्द्वोंसे रहित, सत्त्वगुणमें सर्वदा स्थित और सर्वत्र समान दृष्टि रखनेवाला तुरीयाश्रममें स्थित परमहंस संन्यासी साक्षात् नारायणका स्वरूप है। गाँवमें एक रात रहे और बड़े नगरमें पाँच रात; किंतु यह नियम वर्षाके अतिरिक्त समयके लिये ही है, वर्षामें चार महीनेतक वह किसी एक ही स्थानपर निवास करे। भिक्षु गाँवमें दो रात कभी न रहे। यदि रहता है तो उसके अन्तःकरणमें राग आदिका प्रसङ्ग आ सकता है। इससे वह नरकगामी होता है। गाँवके एक किनारे किसी निर्जन प्रदेशमें मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए निवास करे। कहीं भी अपने लिये मठ या आश्रम न बनाये। जैसे कीड़े हमेशा घूमते रहते हैं, उसी प्रकार आठ महीनोंतक संन्यासी इस पृथ्वीपर विचरता रहे। केवल वर्षाके चार महीनोंमें वह एकत्र निवास करे। वह एक वस्त्र पहनकर रहे अथवा बिना वस्त्रके दिगम्बर होकर रहे। उसकी दृष्टि इधर-उधर चञ्चल न होकर एक लक्ष्यपर ही स्थिर रहे। वह कभी विषयोंमें आसक्त न हो तथा सत्पुरुषोंके पथको कलङ्कित न करते हुए ध्यानपरायण रहकर पृथ्वीपर विचरे। संन्यासी अपने धर्मका पालन करते हुए सदा पवित्र स्थानपर रहे। योगपरायण भिक्षु पृथ्वीतलपर दृष्टि रखते हुए ही सदा विचरण करे। रातको, दोपहरमें तथा दोनों सन्ध्याओंके समय कभी भ्रमण न करे तथा ऐसे स्थानोंपर भी न घूमे जो शून्य, दुर्गम तथा प्राणियोंके लिये बाधाकारक हों। गाँवमें एक रात, पुरवेमें दो दिन, पत्तन (छोटे शहर, कस्बे)-में तीन दिन और नगरमें पाँच रात्रियोंतक संन्यासीको रहना चाहिये। वर्षाकालमें किसी एक स्थानपर, जो पवित्र जलसे घिरा हुआ हो, निवास करना चाहिये। भिक्षु सम्पूर्ण भूतोंको अपने ही समान देखता हुआ अन्धे, जड, बहरे, पागल और गूँगेकी भाँति चेष्टा रखकर पृथ्वीपर विचरण करे। बहूदक और वनस्थ यतियोंके लिये तीनों कालोंका स्नान बताया गया है। परंतु जो 'हंस' संन्यासी है, उसके लिये एक ही बार स्नान करनेका विधान है। हंससे भी ऊँची स्थितिमें जो परमहंस है, उसके लिये स्नान आदिका कोई बन्धन नहीं है'॥ १—२२॥

'मौन, योगासन, योग, तितिक्षा, एकान्तशीलता, निःस्पृहता तथा समता—ये सात एकदण्डी संन्यासियोंके पालन करनेयोग्य नियम हैं। जो परमहंसकी स्थितिमें पहुँचा हुआ है, उसके लिये स्नान आदि अनिवार्य न होनेके कारण वह केवल सम्पूर्ण चित्तवृत्तियोंका त्यागमात्र करे। चमड़ी, मांस, रक्त, नाड़ी, मज्जा, मेद और हड्डियोंके समुदायरूप इस शरीरमें रमनेवाले पुरुषों तथा मल-मूत्र और पीबमें रमनेवाले कीड़ोंमें कितना अन्तर है? सम्पूर्ण कफ आदि घृणित वस्तुओंकी महाराशिरूप यह शरीर कहाँ और अङ्गशोभा, सौन्दर्य एवं कमनीयता आदि गुण कहाँ। मूर्ख मनुष्य मांस, रक्त, पीब, विष्ठा, मूत्र, नाड़ी, मज्जा और हड्डियोंके समुदायरूप इस शरीरमें यदि प्रीति करता है, तो नरकमें भी उसकी अवश्य प्रीति होगी। स्त्रियोंके उच्चारण न करनेयोग्य गुप्त अङ्ग और सड़े हुए नाड़ीके घावमें कोई भेद न होनेपर भी मनुष्य अपने मनकी मान्यताके भेदसे प्रायः ठगा जाता है। स्त्रियोंका वह गुप्त अङ्ग क्या है?—दो भागोंमें विदीर्ण हुआ चर्मखण्डमात्र। वह भी अपानवायुके निकलनेसे दुर्गन्धपूर्ण रहता है। जो लोग उसमें रमण करते हैं, उन्हें नमस्कार है! भला, इससे बढ़कर दुस्साहस और क्या हो सकता है! विद्वान् संन्यासीके लिये न कोई कर्तव्य शेष रहता है और न चिह्नविशेषको धारण करनेकी आवश्यकता। वह ममतारहित, निर्भय, शान्त, निर्द्वन्द्व, वर्ण आदिके अभिमानसे रहित एवं आहारोपार्जनकी चेष्टासे रहित होता है। संन्यासी मुनि कौपीन पहनकर रहे अथवा नंगा ही रहकर ध्यानमें तत्पर रहे। इस प्रकार ज्ञानपरायण योगी ब्रह्मभावकी प्राप्तिमें समर्थ होता है। संन्यासका चिह्नविशेष होते हुए भी उसमें ज्ञान ही मोक्षका विशेष कारण है। प्राणियोंके लिये नाना प्रकारके चिह्नोंका धारण मोक्षसाधक ज्ञानके अभावमें निरर्थक ही होता है। जिसके विषयमें कोई भी यह नहीं जानता कि यह साधु है या असाधु, मूर्ख है या बहुत बड़ा विद्वान् अथवा सदाचारी है या दुराचारी, वही ब्रह्मवेत्ता

ब्राह्मण है। इसलिये विद्वान् संन्यासी किसी भी चिह्नविशेषको न धारण करके स्वधर्मका ज्ञान रखते हुए सर्वोत्तम ब्रह्मचिन्तन-व्रतका पालन करे। वह गूढ़ धर्मका आश्रय लेकर इस प्रकार आचरण करे, जिससे उसके आचरणके विषयकी कोई बात दूसरोंपर प्रकट न हो। समस्त प्राणियोंके लिये संदेहका विषय बना हुआ वह वर्ण और आश्रमसे रहित हो अन्ध, जड और मूककी भाँति पृथिवीपर विचरण करे। उस शान्तचित्त संन्यासीका दर्शन करके देवता भी वैसी स्थिति प्राप्त करनेके लिये लालायित होते हैं। जब आत्मसत्ताके अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तुके अस्तित्वका चिह्न भी न रह जाय, तभी कैवल्य प्राप्त होता है। यही ब्रह्मतत्त्वका उपदेश है'॥ २३—३६॥

तदनन्तर नारदजीने ब्रह्माजीसे पूछा—'भगवन्! संन्यासकी विधि क्या है, यह बतानेकी कृपा करें।' तब ब्रह्माजीने 'तथास्तु' कहकर स्वीकृति दी और इस प्रकार कहा—'आतुर-संन्यासमें अथवा क्रम-संन्यासमें चतुर्थ आश्रम स्वीकार करनेके लिये पहले प्रायश्चित्तरूपमें कृच्छ्र आदि व्रत करके फिर अष्टश्राद्ध करे। देवता, ऋषि, दिव्यमनुष्य, भूत, पितर, माताएँ और आत्मा—इन आठके निमित्त आठ श्राद्ध करना आवश्यक है। पहले 'सत्य' और 'वसु' नामके विश्वेदेवोंका आवाहन करे; फिर देवश्राद्धमें ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेवजीका; ऋषिश्राद्धमें देवर्षि, राजर्षि तथा मानवर्षियोंका; दिव्यश्राद्धमें आठ वसुओं, ग्यारह रुद्रों तथा बारह आदित्योंका; मनुष्यश्राद्धमें सनक, सनन्दन, सनत्कुमार तथा सनत्सुजातका; भूतश्राद्धमें पृथिवी आदि पञ्च महाभूतों, नेत्र आदि इन्द्रियों तथा जरायुज आदि चतुर्विध प्राणिसमुदायोंका; पितृश्राद्धमें पिता, पितामह तथा प्रपितामहका; मातृश्राद्धमें माता, पितामही और प्रपितामहीका तथा आत्मश्राद्धमें अपना, अपने पिताका और पितामहका—यदि उसके पिता जीवित हों तो पिताको छोड़कर अपना, पितामह और प्रपितामहका आह्वान करे। आठों श्राद्धोंको एक ही यज्ञका अङ्ग बनाकर करनेपर प्रत्येक श्राद्धमें दो-दोके क्रमसे ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करके उनका विधिवत् पूजन करे अथवा यदि आठ पृथक्-पृथक् यज्ञ किये जायँ तो ऐसी स्थितिमें अपनी शाखामें आये हुए मन्त्रोंद्वारा इन आठ श्राद्धोंको आठ दिनमें या एक दिनमें करे। पितृयाग (श्राद्धकल्प)-में बताये हुए विधानके अनुसार ब्राह्मणोंके पूजनसे लेकर भोजनतक सब कृत्य विधिपूर्वक सम्पन्न करके पिण्डदान दे। फिर दक्षिणा और ताम्बूलसे ब्राह्मणोंको संतुष्ट करके उन्हें विदा करे और शेष कर्मकी सिद्धिके लिये सात या आठ छोड़कर शेष सभी केशोंको मुँड़वा दे। साथ ही मूँछ, दाढ़ी और नख भी कटवा दे। ऊपर बताये अनुसार सात केशोंको अवश्य बचा ले। काँख और उपस्थके केश भी न कटाये। क्षौरके पश्चात् स्नान करे। उसके बाद सायंकालीन संध्या-वन्दन करके एक सहस्र गायत्रीका जप करे। फिर ब्रह्मयज्ञ करके स्वतन्त्र अग्निकी स्थापना करे। फिर अपनी शाखाका उपसंहार करके उसमें बताये अनुसार आज्यभागपर्यन्त घीकी आहुति दे। हवनकी विधि पूरी करके तीन ग्रास सत्तूका प्राशन (भोजन) करे। फिर आचमन करके अग्निकी रक्षाके लिये उसमें ईंधन आदि रखकर स्वयं अग्निसे उत्तरकी ओर काले मृगचर्मपर बैठ जाय और पुराण-कथा सुनते हुए रातभर जागरण करे। रातके चौथे पहरके अन्तमें स्नान करके पूर्वोक्त अग्निमें चरु पकाये। फिर पुरुषसूक्तके सोलह मन्त्रोंद्वारा उस चरुकी सोलह आहुतियाँ अग्निमें डाले और विरजा-होम करके आचमनपूर्वक दक्षिणासहित वस्त्र, सुवर्ण, पात्र और धेनुका दान करे और इस प्रकार विधिको पूर्ण करे। इसके बाद ब्रह्माका विसर्जन करके—

सं मा सिञ्चन्तु मरुतः समिन्द्रः सं बृहस्पतिः।
सं मायमग्निः सिञ्चत्वायुषा च धनेन च बलेन चायुष्मन्तं करोतु मा॥[1]

या ते अग्ने यज्ञिया तनूस्तयेह्यारोहात्मात्मानम्।
अच्छा वसूनि कृण्वन्नस्मे नर्या पुरूणि॥
यज्ञो भूत्वा यज्ञमासीद स्वां योनिम्।
जातवेदो भुव आजायमानः सक्षय एहि॥[2]

—इन दो मन्त्रोंद्वारा अग्निके आधिदैविक स्वरूपको अपने आत्मामें स्थापित कर ले। फिर अग्निका ध्यान करके प्रदक्षिणा और नमस्कारपूर्वक अग्निशालामें उसका विसर्जन कर दे। तदनन्तर प्रातःसंध्योपासन करके सहस्र बार गायत्रीका जप और सूर्योपस्थान करे। तत्पश्चात् नाभितक जलमें प्रवेश करके उसमें बैठकर अष्ट

---

१. अर्थात् मरुद्गण, इन्द्र, बृहस्पति तथा अग्नि—ये सभी देवता मुझपर कल्याणकी वर्षा करें। ये अग्निदेव मुझे आयु, ज्ञानरूपी धन तथा साधनकी शक्तिसे सम्पन्न करें, साथ ही मुझको दीर्घजीवी भी बनायें।

२. हे अग्निदेव! जो तुम्हारा यज्ञिय (यज्ञोंमें प्रकट होनेवाला) स्वरूप है, उसी स्वरूपसे तुम यहाँ पधारो और मेरे लिये बहुत-से मनुष्योपयोगी विशुद्ध धन (साधन-सम्पत्ति)-की सृष्टि करते हुए आत्मारूपसे मेरे आत्मामें विराजमान हो जाओ। तुम यज्ञरूप होकर अपने कारणरूप यज्ञमें पहुँच जाओ। हे जातवेदा! तुम पृथिवीसे उत्पन्न होकर अपने धामके साथ यहाँ पधारो।

दिक्पालोंको अर्घ्य दे। फिर गायत्रीका विसर्जन करके सावित्रीको व्याहृतियोंमें प्रविष्ट करे अर्थात् सावित्रीदेवीसे व्याहृतियोंमें प्रवेश करनेकी प्रार्थना करे।

प्रार्थनाके मन्त्र इस प्रकार हैं—

'अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणं सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्।'[1]

'यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्॥'[2]

शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधयाविहितः। श्रुतं मे गोपाय॥[3]

'दारैषणायाश्च धनैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थितोऽहम्', 'ॐ भूः संन्यस्तं मया' 'ॐ भुवः संन्यस्तं मया', 'ॐ सुवः संन्यस्तं मया', 'ॐ भूर्भुवः सुवः संन्यस्तं मया'[4]

'इस प्रकार मन्द, मध्यम और उच्च स्वरसे वाणीद्वारा अथवा मन-ही-मन इन मन्त्रोंका उच्चारण करके तथा **'अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते स्वाहा'** (मेरी ओरसे सब प्राणियोंको अभयदान दिया गया, मुझसे ही सबकी प्रवृत्ति होती है) इस मन्त्रसे जलका आचमन करके पूर्व दिशाकी ओर पूरी अञ्जलिभर जल डालकर **'ॐ स्वाहा'** कहकर शेष बचे हुए शिखाके बालोंको उखाड़ डाले। तत्पश्चात्—'

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥
यज्ञोपवीतं बहिर्न निवसेत्
त्वमन्तः प्रविश्य मध्ये ह्यजस्रम्।
परमं पवित्रं यशो बलं
ज्ञानवैराग्यं मेधां प्रयच्छ॥[5]

—यह मन्त्र पढ़कर यज्ञोपवीत तोड़ डाले और उसे जलाञ्जलिके साथ हाथमें लेकर **'ॐ भूः समुद्रं गच्छ स्वाहा'**—इस मन्त्रके द्वारा जलमें ही होम दे। फिर **'ॐ भूः संन्यस्तं मया', 'ॐ भुवः संन्यस्तं मया', 'ॐ सुवः संन्यस्तं मया'**—इस प्रकार तीन बार कहकर, तीन बार जलको अभिमन्त्रित करके उसका आचमन करे। तत्पश्चात् **'ॐ भूः स्वाहा'** कहकर वस्त्र और कटिसूत्रको भी जलमें ही त्याग दे। तदनन्तर इस बातका स्मरण करते हुए कि मैं सब कर्मोंका त्यागी हूँ, दिगम्बर होकर स्वरूपका चिन्तन करते हुए ऊपर बाँह उठाये हुए उत्तर दिशाकी ओर चला जाय॥ ३७॥

'यदि पूर्ववत् विद्वत्-संन्यासी हो तो गुरुसे प्रणव और महावाक्यका उपदेश प्राप्त करके, मुझसे भिन्न दूसरा कोई नहीं है—इस निश्चयके साथ आनन्दपूर्वक विचरण करता रहे। फल, पत्र और जलका ही आहार करे। पर्वत, वन तथा देवमन्दिरोंमें संचरण करे। संन्यासके बाद यदि दिगम्बर हो गया तो वह अपने हृदयमें सदा केवल आनन्दस्वरूप आत्माकी अनुभूतिको ही भरकर कर्मोंसे अत्यन्त दूर रहनेमें ही लाभ मानता हुआ फलोंके रस, छिलके, पत्ते, मूल एवं जलसे प्राण धारण करे और केवल मोक्षकी ही अभिलाषा रखकर पर्वतकी कन्दराओंमें प्रणवका जप एवं ब्रह्मका चिन्तन करते हुए सर्वत्र संचरण करनेवाले अपने शरीरका त्याग कर दे'॥ ३८॥

'यदि ज्ञानप्राप्तिकी इच्छासे संन्यासी हुआ हो तो वह सौ पग जानेके पश्चात् आचार्य आदि ब्राह्मणोंद्वारा यों कहकर बुलानेपर कि—'हे महाभाग! ठहरो, ठहरो; यह दण्ड, वस्त्र और कमण्डलु ग्रहण करो। तुम्हें प्रणव और महावाक्यका उपदेश ग्रहण करनेके लिये गुरुके निकट आना चाहिये।' उनके समीप आ जाय। फिर आचार्योंद्वारा देनेपर दण्ड, कटिसूत्र, कौपीन , एक शाटी (चादर) और एक कमण्डलु ग्रहण करे। दण्ड बाँसका होना चाहिये।

---

१. इस मन्त्रका अर्थ इसी अङ्कके पृष्ठ ३२९ पर देखिये।

२. ३. ये दोनों मन्त्र एक ही मन्त्रके भाग हैं। पूरे मन्त्रका अर्थ इसी अङ्कके पृष्ठ ३१९ पर देखिये।

४. इन वाक्योंका अर्थ इस प्रकार है—'मैं स्त्रीकी कामना, धनकी कामना और लोकमें ख्यातिकी कामनासे ऊपर उठ गया हूँ। मैंने भूलोकका संन्यास (पूर्णतः त्याग) कर दिया। मैंने भुवः (अन्तरिक्ष) लोकका परित्याग कर दिया तथा मैंने स्वर्गलोकको भी सर्वथा त्याग दिया। मैंने भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक—इन तीनोंको भलीभाँति त्याग दिया।'

५. यह यज्ञसूत्र परम पवित्र है। यह पूर्वकालमें प्रजापतिके साथ ही प्रकट हुआ था। यह सर्वश्रेष्ठ आयुष्य (आयु बढ़ानेका साधन) है। इस यज्ञोपवीतको मेरे कण्ठमें पहना दो। यह शुभ्र यज्ञोपवीत मेरे बल और तेजको बढ़ानेवाला हो। यज्ञोपवीत बाहर न रहे। हे यज्ञमय सूत्र! तुम मेरे भीतर प्रवेशकर मेरे आत्माके साथ निरन्तर एक होकर रहो। तुम परम पवित्र हो। मुझे सुयश, बल, ज्ञान, वैराग्य तथा धारणाशक्ति प्रदान करो।

उसकी ऊँचाई पैरसे लेकर मस्तकतककी हो। वह खरोंच अथवा छेदसे रहित, बराबर चिकना एवं उत्तम लक्षणोंसे युक्त हो। उसका रंग काला न हो। इन सब वस्तुओंको लेनेके पहले वह आचमन कर ले और—

सखा मा गोपायौजः सखा योऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारय।*

—इस मन्त्रका उच्चारण करके दण्डको हाथमें ले। फिर—

जगज्जीवनं जीवनाधारभूतं मा ते मा मन्त्रयस्व सर्वदा सर्वसौम्य।

—इस मन्त्रके साथ प्रणवका उच्चारण करते हुए कमण्डलु ग्रहण करे। तत्पश्चात् '**कौपीनाधारं कटिसूत्रमोम्**' यों कहकर कटिसूत्र ग्रहण करे; '**गुह्याच्छादकं कौपीनमोम्**' यों कहकर कौपीन ग्रहण करे तथा ; '**शीतवातोष्णत्राणकरं देहैकरक्षणं वस्त्रमोम्**' इस मन्त्रका उच्चारण करके वस्त्र ग्रहण करे। तदनन्तर पुनः आचमन करके योगपट्टाभिषिक्त हो 'मैं कृतार्थ हो गया,' यह मानता हुआ अपने आश्रमोचित सदाचारके पालनमें तत्पर हो जाय। यह उपनिषद् है॥ ३९॥

॥ चतुर्थ उपदेश समाप्त॥ ४॥

पञ्चम उपदेश

संन्यास और संन्यासीके भेद तथा संन्यास-धर्म और उसके पालनका महत्त्व

इसके बाद अपने पिता ब्रह्माजीसे देवर्षि नारदने पूछा—'भगवन्! आपने ही बताया है कि संन्यास सब कर्मोंकी निवृत्ति करनेवाला है; फिर आप ही यह भी कहते हैं कि संन्यासी अपने आश्रमोचित आचारके पालनमें तत्पर हो जाय। (ये दोनों बातें परस्परविरुद्ध जान पड़ती हैं। इस विरोधका परिहार कैसे हो?)' तब पितामहने कहा—'शरीरमें स्थित देहधारी जीवकी चार अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। इन अवस्थाओंके अधीन होकर ही पुरुष कर्म, ज्ञान और वैराग्यके प्रवर्त्तक होते हैं तथा समस्त प्राणी इन चार अवस्थाओंके अधीन होकर जब-जब जिस अवस्थामें स्थित होते हैं, उसके अनुकूल आचरण करते हैं। (इसी प्रकार जो जिस आश्रममें स्थित होता है, वह उसीके अनुकूल आचरण करता है) ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थके द्वारा अनिवार्यरूपसे सेवन करनेयोग्य जो श्रौत-स्मार्त कर्म हैं, संन्यास उन्हीं कर्मोंका निवर्तक है। परंतु संन्यास-आश्रमके अनुकूल जो श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि साधन हैं, उनका त्याग वहाँ भी नहीं होता। इसी दृष्टिसे यह कहा गया है कि संन्यासी अपने आश्रमोचित सदाचारके पालनमें तत्पर हो जाय।' नारदजीने कहा—'भगवन्! ठीक है। अब हमें यथार्थरूपसे यह बताइये कि संन्यासके कितने भेद हैं और उनके अनुष्ठानमें किस प्रकारका अन्तर है?'

ब्रह्माजीने कहा—'बहुत अच्छा। संन्यास-भेदसे आचार-भेद कैसे होता है, यह जानना चाहते हो तो बतलाता हूँ; श्रवण करो। वास्तवमें तो संन्यास एक ही है; किंतु अज्ञानसे, असमर्थतावश और कर्मलोपके कारण तीन भेदोंमें विभक्त होकर वैराग्य-संन्यास, ज्ञान-संन्यास, ज्ञान-वैराग्य-संन्यास और कर्म-संन्यास—इन चार भेदोंको प्राप्त होता है। वह सब इस प्रकार है। मनमें अनर्थकारी दुष्ट कामका अभाव होनेसे विषयोंकी ओरसे विरक्त होकर जो पूर्वजन्मके पुण्यकर्मके प्रभावसे संन्यास लेता है, वह वैराग्य-संन्यासी कहलाता है। जो शास्त्रको जाननेसे तथा पापमय एवं पुण्यमय लोकोंका अनुभव और श्रवण करनेसे प्रपञ्चकी ओरसे स्वभावतः विरक्त हो गया है, क्रोध, ईर्ष्या, असूया (दोषदृष्टि), अहंकार और अभिमान ही जिसके स्वरूप हैं, ऐसे समस्त संसारको अपने मनसे हटाकर, स्त्री-कामना, धन-कामना और लोकमें ख्यातिकी कामना—इन त्रिविध स्वरूपोंवाली दैहिक-वासनाको, शास्त्र-वासनाको तथा लोक-वासनाको त्याग देता है तथा जैसे साधारण लोग वमन किये हुए अन्नको त्याज्य समझते हैं, उसी प्रकार इन समस्त भोगोंको त्याज्य मानकर जो साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न हो संन्यास ग्रहण करता है, वही ज्ञान-संन्यासी कहलाता है। जो क्रमशः सब शास्त्रोंका अभ्यास करके, सब कुछ अनुभवमें लाकर ज्ञान और वैराग्यके द्वारा केवल अपने स्वरूपका ही चिन्तन करते हुए दिगम्बर हो जाता है, वही यह ज्ञान-वैराग्य-संन्यासी

* हे दण्ड! तुम मेरे सखा (सहायक) हो, मेरी रक्षा करो। मेरे ओज (प्राणशक्ति)-की रक्षा करो। तुम वही मेरे सखा हो, जो इन्द्रके हाथमें वज्रके रूपमें रहते हो। तुमने ही वज्ररूपसे आघात करके वृत्रासुरका संहार किया है। तुम मेरे लिये कल्याणमय बनो। मुझमें जो पाप हो, उसका निवारण करो।

है। जो ब्रह्मचर्यको समाप्त करके गृहस्थ होकर तथा गृहस्थसे वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करके पूर्ण वैराग्य न होनेपर भी आश्रम-क्रमके अनुसार अन्तमें संन्यास ग्रहण करता है, वह कर्म-संन्यासी है। अथवा ब्रह्मचर्यसे ही संन्यास लेकर संन्याससे जो दिगम्बर हो जाता है, वह वैराग्य-संन्यासी है। विद्वत्संन्यासी ज्ञान-संन्यासी है तथा विविदिषा-संन्यासी कर्म-संन्यासी है'॥ १—७॥

"कर्म-संन्यास भी दो प्रकारका होता है—एक निमित्त-संन्यास और दूसरा अनिमित्त-संन्यास। आतुर-संन्यास निमित्त-संन्यास कहलाता है और क्रम-संन्यासको अनिमित्त-संन्यास कहते हैं। रोग आदिसे आतुर होनेके कारण जिसमें सब कर्मोंका लोप हो जाता है अर्थात् जिसमें नित्य-नैमित्तिक आदि कोई कर्म नहीं बन सकते तथा जो प्राणत्यागके समय स्वीकार किया जाता है, वह संन्यास निमित्त-संन्यास माना गया है। (इसीको आतुर-संन्यास भी कहते हैं।) शरीरके सबल होनेपर जो विचारके द्वारा यह निश्चय करके कि उत्पन्न होनेवाली सब वस्तुएँ नश्वर हैं, देह आदि सबको त्याज्य मानता और—

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता
वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा
ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥

'वह परमात्मा आकाशमें विचरनेवाला हंस (सूर्य) है, अन्तरिक्षचारी वसु है। वही होता और वेदीपर स्थापित अग्नि है। गृहस्थोंके घरोंमें अतिथिरूपसे आश्रय लेनेवाला भी वही है। मनुष्योंमें उसीकी सत्ता है। श्रेष्ठ वस्तुओंमें भी उसीका अस्तित्व है। सत्यमें उसीका निवास है। आकाशमें भी वही सत्य है। वही जलसे प्रकट होता है। वही गौ (पृथ्वी एवं वाणी)-से प्रकट होनेवाला है। सत्यसे भी उसीका प्रादुर्भाव होता है। वही पर्वतोंसे प्रकट होता है तथा इन सबसे भिन्न एवं विलक्षणरूपमें वही एकमात्र महान् सत्य है।'

—इस मन्त्रके अनुसार केवल परब्रह्म परमेश्वरको ही सत्य समझता और ब्रह्मसे अतिरिक्त सब कुछ नश्वर है, इस निश्चयपर पहुँचकर क्रमशः संन्यास-आश्रम ग्रहण करता है, उसका वह संन्यास अनिमित्त-संन्यास कहा गया है। संन्यासी छः प्रकारके होते हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत तथा अवधूत। कुटीचक संन्यासी शिखा और यज्ञोपवीतसे युक्त होता है। वह दण्ड, कमण्डलु, कौपीन और कन्था धारण करता है। पिता, माता और गुरु—तीनोंकी सेवामें संलग्न रहता है। पिठर (पात्र), खनित्र (खनती) और झोली आदि साथ रखता है और मन्त्र-साधनमें लगा रहता है, एक ही जगह भोजन करता रहता है, श्वेत ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करता है और त्रिदण्डी होता है। बहूदक भी कुटीचककी भाँति शिखा, यज्ञोपवीत, दण्ड, कमण्डलु, कौपीन और कन्था धारण करते हैं। ललाटमें त्रिपुण्ड्र लगाते हैं। सबके प्रति समभाव रखते हैं और मधुकरीवृत्तिसे कई घरोंसे अन्न लाकर केवल आठ ग्रास भोजन करते हैं। हंस नामक संन्यासी जटा धारण करनेवाले, त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधारी, अनिश्चित घरोंसे मधुकरी लाकर भोजन करनेवाले तथा कौपीनखण्ड एवं तुण्ड (तूँबी) धारण करते हैं। परमहंस शिखा और यज्ञोपवीतसे रहित होते हैं। वे पाँच गृहोंसे अन्न लाकर केवल एक रात भोजन करते हैं अर्थात् दूसरे दिन दूसरे पाँच गृहोंका अन्न ग्रहण करते हैं। उनका हाथ ही पात्र होता है। अतएव वे 'करपात्री' कहलाते हैं। एक कौपीन धारण करते, एक ओढ़नेका वस्त्र रखते और बाँसका दण्ड धारण करते हैं। वे या तो एक चादर ओढ़कर रहते हैं या सब अङ्गोंमें भस्म रमाये रहते हैं। परमहंस सर्वत्यागी होते हैं। तुरीयातीत संन्यासी गोमुख होते हैं अर्थात् जैसे गायें दैवेच्छावश जो तृण आदि प्राप्त हो जाय, उसीसे निर्वाह करती हैं, उसी प्रकार वे दैवेच्छावश जो कुछ प्राप्त हो जाय उसीको अपना ग्रास बनाते हैं। विशेषतः वे फलाहारी होते हैं। यदि अन्नाहारी हों तो केवल तीन घरोंका अन्न ग्रहण करते हैं। देहके सिवा और कुछ उनके पास शेष नहीं रहता। वे दिगम्बर रहते और मुर्दोंकी तरह शारीरिक चेष्टासे रहित होते हैं। अवधूत किसी नियमके बन्धनमें नहीं रहता। वह कलङ्कित और पतित मनुष्योंको छोड़कर शेष सभी वर्णोंके मनुष्योंसे अजगर-वृत्तिके अनुसार आहार ग्रहण करता है तथा सर्वदा अपने स्वरूपके चिन्तनमें लगा रहता है॥ ८—१७॥

'आतुर पुरुष संन्यास लेनेके बाद यदि जी जाय तो उसे सम्पूर्ण विधियोंका पालन करते हुए क्रम-संन्यास ग्रहण करना चाहिये। कुटीचक, बहूदक और हंस—इन तीन प्रकारके संन्यासियोंकी संन्यास-विधि ब्रह्मचर्यादि आश्रमसे लेकर चतुर्थाश्रमतककी भाँति है अर्थात् उनके लिये क्रम-संन्यासका विधान है। परमहंस आदि (अर्थात् परमहंस, तुरीयातीत एवं अवधूत—इन) तीन प्रकारके संन्यासियोंके लिये कटिसूत्र, कौपीन, वस्त्र, कमण्डलु और दण्ड धारण करनेकी आवश्यकता नहीं है। वे सभी वर्णोंके घरसे एक बार भिक्षाटन कर सकते हैं तथा उन्हें

दिगम्बर होना चाहिये। यही उनके लिये सामान्य विधि है। संन्यास-ग्रहणके समय भी जबतक उनके भीतर अलंबुद्धि न हो जाय अर्थात् अबतक मैंने जो कुछ अध्ययन किया है,वह पर्याप्त है; उससे अधिक अध्ययन करनेकी अपने लिये कोई आवश्यकता नहीं है—ऐसी बुद्धि जबतक उत्पन्न न हो जाय, तबतक उन्हें अध्ययन करना चाहिये। उसके पश्चात् कटिसूत्र, कौपीन, दण्ड, वस्त्र और कमण्डलु—सबका जलमें विसर्जन कर देना चाहिये। यदि वह दिगम्बर हो तो कन्थाका लेशमात्र भी अपने पास न रखे। न अध्ययन करे, न व्याख्यान दे और न कुछ श्रवण ही करे। प्रणवके सिवा और कुछ न पढ़े। न तर्कशास्त्र पढ़े, न शब्दशास्त्र। बहुत-से शब्दोंकी शिक्षा न दे। वागिन्द्रियके द्वारा वाणीका व्यर्थ अपव्यय न करे (अधिक न बोले)। हाथ आदिके इशारेसे बात करना या अन्य किसी भाषाविशेषके द्वारा भी बात करना निषिद्ध है। शूद्र, स्त्री, पतित एवं रजस्वलासे बातचीत न करे। यतिके लिये देव-पूजाका विधान नहीं है। उसे उत्सव नहीं देखना चाहिये तथा तीर्थ-यात्रा भी उसके लिये आवश्यक नहीं है॥ १८—२०॥

'अब पुनः संन्यासीके विशेष नियम बताये जाते हैं। कुटीचक संन्यासीके लिये ही एक स्थानपर भिक्षा ग्रहण करनेकी विधि है। बहूदकके लिये अनिश्चित घरोंसे मधुकरी ग्रहण करनेका विधान है। हंसके लिये आठ घरोंसे आठ ग्रास अन्न लेकर भोजन करनेका विधान है। परमहंसके लिये पाँच घरोंसे अन्न लेनेका नियम है। हाथ ही उसका पात्र है। तुरीयातीतके लिये गोमुख-वृत्तिसे फलाहारका नियम है अर्थात् जैसे गायको जो कुछ भी खिलाया जाय, वह मुँह खोकर ले लेती है, उसी प्रकार दैवेच्छासे जो कुछ भी फल-फूल मिल जाय, उसीको वह ग्रहण करे। अवधूतके लिये सभी वर्णोंके लोगोंके यहाँसे अजगरवृत्तिके अनुसार अन्न-ग्रहण करनेका नियम है। यति किसी गृहस्थके घर एक रात भी न ठहरे। किसीको भी नमस्कार न करे। तुरीयातीत और अवधूत—इन दोनोंमें अवस्थाके अनुसार कोई जेठा या छोटा नहीं होता। जिसे अपने स्वरूपका ज्ञान नहीं है, वह अवस्थामें बड़ा होनेपर भी छोटा ही है। संन्यासी अपने हाथसे तैरकर नदी पार न करे। पेड़पर न चढ़े। सवारीपर न चले। खरीद-बिक्री न करे। किसी वस्तुकी अदला-बदली भी न करे। दम्भी और असत्यवादी न बने। यतिके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है। यदि है तो उसमें अन्य आश्रमोंके धर्मोंकी संकरताका दोष आता है। इसलिये संन्यासियोंका मनन आदिमें ही अधिकार है'॥ २१॥

'आतुर और कुटीचकके लिये भूर्लोक और भुवर्लोककी प्राप्ति होती है। बहूदकको स्वर्गलोक, हंसको तपोलोक तथा परमहंसको सत्यलोक प्राप्त होता है। तुरीयातीत एवं अवधूतको अपने आत्मामें ही कैवल्य प्राप्त होता है। वह भ्रमरका चिन्तन करनेवाले कीटकी भाँति निरन्तर स्वरूपका अनुसंधान करते रहनेके कारण आत्मरूप ही हो जाता है। मनुष्य जिस-जिस भावका चिन्तन करते हुए अन्तमें शरीरका त्याग करता है, उसी-उसीको वह प्राप्त होता है—यह बात अन्यथा नहीं है। यह श्रुतिका उपदेश है'॥ २२-२३॥

'अतः यों जानकर संन्यासी आत्माके स्वरूपका चिन्तन छोड़कर और किसी आचारमें तत्पर न हो। भिन्न-भिन्न आचारोंका अनुष्ठान करनेसे तदनुकूल लोकोंकी प्राप्ति होती है; परंतु ज्ञान-वैराग्यसम्पन्न संन्यासीकी अपने-आपमें ही मुक्ति होती है। किसी भी अन्य आचारमें आसक्त न होना ही उसका अपना आचार है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंमें वह एकरूप होता है। जाग्रत्कालमें वही विश्व, स्वप्नकालमें तैजस और सुषुप्तिकालमें प्राज्ञ कहलाता है। अवस्था-भेदसे उन-उन अवस्थाओंके स्वामीमें भेद होता है। कार्य-भेदसे ही कारण-भेद माना जाता है। जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें चौदह करणोंकी* जो बाह्य वृत्तियाँ और अन्तर्वृत्तियाँ हैं, उनका उपादान-कारण एक है। आन्तरिक वृत्तियाँ चार मानी गयी हैं—मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त। उन-उन वृत्तियोंके व्यापार-भेदसे पृथक्-पृथक् आचार-भेद होता है॥ २४॥

'जाग्रत्-अवस्था और उसके स्वामी विश्वकी स्थिति नेत्रके भीतर है। स्वप्न और उसके अधिष्ठाता तैजसका कण्ठमें समावेश है। सुषुप्त और उसके स्वामी प्राज्ञकी स्थिति हृदयमें है तथा तुरीय परमेश्वरकी स्थिति मस्तक (ब्रह्मरन्ध्र)-में मानी गयी है। जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओंको प्रकाशित करते हुए तुरीयरूपमें जिसकी स्थिति बतायी गयी है, वह तुरीयस्वरूप अविनाशी परमात्मा मैं ही हूँ—यों जानकर जो जाग्रत्-अवस्थामें भी सुषुप्तकी भाँति रहता है; जो-जो सुनी और जो-जो देखी हुई वस्तु है, वह सब मानो अविज्ञात (अपरिचित)-सी है—इस प्रकार उनकी ओर ध्यान न देते हुए जो निवास करता है, उसकी

* श्रोत्र, नेत्र, घ्राण, त्वचा, रसना—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; वाक्, पाणि, चरण, गुदा और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये चार अन्तःकरण—सब मिलकर चौदह करण कहे गये हैं।

स्वप्नावस्थामें भी वैसी ही अवस्था बनी रहती है अर्थात् वह स्वप्नमें उपलब्ध पदार्थोंको भी ग्रहण नहीं करता। ऐसा पुरुष जीवन्मुक्त है—इस प्रकार ज्ञानीजन कहते हैं। समस्त श्रुतियोंके अर्थका प्रतिपादन भी यही है कि उसीकी मुक्ति होती है। भिक्षु इहलोक और परलोकके विषयोंकी भी अपेक्षा नहीं रखता। यदि उसमें अपेक्षा हो तो उसीके अनुरूप वह बन जायगा—अपने स्वरूपसे नीचे गिर जायगा। स्वरूपानुसन्धानको छोड़कर अन्य शास्त्रोंका अभ्यास उसके लिये उसी प्रकार व्यर्थ है, जैसे ऊँटकी पीठपर लदा हुआ केसरका भार। उसकी योगशास्त्रमें प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। उसे सांख्यशास्त्रका अभ्यास तथा मन्त्र-तन्त्रका व्यापार भी नहीं करना चाहिये। यदि संन्यासीकी प्रवृत्ति अन्यान्य शास्त्रोंमें होती है तो वह सब उसके लिये मुर्देको पहनाये हुए आभूषणके समान है। चमारकी भाँति सबसे अत्यन्त दूर रहकर कर्म, आचार और विद्यासे भी दूर रहे। प्रणवका भी उच्च स्वरसे कीर्तन न करे; क्योंकि मनुष्य जो-जो कर्म करता है, उसका फल भी उसे भोगना पड़ता है। अतः सबको रेड़ीके तेलके फेनकी भाँति निःसार समझकर त्याग दे और परमात्मचिन्तनमें संलग्न मनोमय दण्ड तथा हाथरूपी पात्र धारण करनेवाले दिगम्बर संन्यासीका दर्शन करके—उसके आदर्शको सामने रखकर भिक्षु सब ओर विचरण करे। वह बालक, उन्मत्त तथा पिशाचकी भाँति जीवन अथवा मृत्युकी कामना न करे। आज्ञाकारी भृत्यकी भाँति भिक्षु केवल कालकी ही प्रतीक्षा करता रहे'॥ २५-२६॥

'जो तितिक्षा (सहनशीलता), ज्ञान, वैराग्य और शम-दम आदि सद्गुणोंसे शून्य रहकर केवल भिक्षासे जीवन-निर्वाह करता है, वह संन्यासी संन्यास-वृत्तिका हनन करनेवाला है। केवल दण्ड धारण करने, मूँड़ मुँड़ाने, वेष बनाने और दिखावेके लिये किसी आचारका पालन करनेसे मोक्ष नहीं मिलता। जिसने ज्ञानरूप दण्ड धारण किया है, वही एकदण्डी कहलाता है। जिसने काष्ठका दण्ड तो धारण कर लिया है किंतु मनमें सम्पूर्ण कामनाओंको स्थान दे रखा है तथा जो ज्ञानसे सर्वथा शून्य है, वह संन्यासी महारौरव नामक घोर नरकोंमें पड़ता है। महर्षियोंने प्रतिष्ठाको शूकरीकी विष्ठाके समान बताया है। अतः संन्यासी इस प्रतिष्ठाको त्यागकर, कीटकी भाँति सर्वत्र विचरण करे। दिगम्बर संन्यासी बिना माँगे जो मिल जाय, वही भोजन करे और वैसे ही वस्त्रसे अपने शरीरको ढँके। वह दूसरोंकी इच्छासे ही वस्त्र पहने और दूसरोंकी इच्छासे ही स्नान करे। जो स्वप्नमें भी जाग्रत्-अवस्थाकी भाँति ही विशेषरूपसे सावधान हो वैसी ही चेष्टा करता है, वह श्रेष्ठ संन्यासी ब्रह्मवेत्ताओंमें वरिष्ठ (प्रधान) माना गया है। भिक्षा आदि न मिलनेपर विषाद न करे और मिल जानेपर हर्षसे फूल न उठे। भिक्षा उतनी ही ग्रहण करे, जितनेसे प्राण-रक्षा हो सके। शब्द आदि विषयोंकी आसक्तिसे सर्वथा दूर रहे। सम्मानकी प्राप्तिको वह सब प्रकारसे घृणाकी दृष्टिसे ही देखे। सम्मानका लाभ उठानेवाला संन्यासी मुक्त होनेपर भी बँध जाता है'॥ २७—३४॥

'जब चूल्हेकी आग बुझ जाय, घरके सब लोग भोजन कर लें, ऐसे समयमें संन्यासी उत्तम वर्णवाले गृहस्थोंके घर भिक्षा लेने जाय। भिक्षाका उद्देश्य प्राण-यात्राका निर्वाहमात्र होना चाहिये। हाथको ही पात्र बनाकर विचरनेवाला करपात्री यति बार-बार भिक्षा न माँगे। एक बारमें जो मिल जाय, उसे खड़े-खड़े पा ले या चलते-चलते भोजन करे। जबतक हाथका भोजन समाप्त न हो जाय, बीचमें आचमन (जलपान) न करे। संन्यासी समुद्रकी भाँति मर्यादाके भीतर ही रहते हैं। उनका आशय महान् होता है। वे महान् होकर भी सूर्यकी भाँति नियति (नियत मार्ग)-का त्याग नहीं करते। जिस समय संन्यासी मुनि गौकी भाँति मुखसे आहार ग्रहण करने लगता है अर्थात् यदि कोई उसके मुखमें कुछ डाल दे, तभी वह भोजन करता है, उस समय सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति उसका समभाव हो जाता है और वह अमृतत्व (मोक्ष)-प्राप्तिका अधिकारी बन जाता है। जो घर निन्दनीय न हो, वहीं भिक्षा लेनेके लिये जाय। निन्दनीय घरोंको छोड़ दे। जिस घरका दरवाजा खुला हो, उसीमें प्रवेश करे। जिसका द्वार बंद हो, उस घरमें न जाय। वह धूलसे आच्छादित निर्जन घरोंमें आश्रय ले अथवा वृक्षकी जड़को ही अपना निवासस्थान बनाये। समस्त प्रिय और अप्रियकी भावनाओंको त्याग दे'॥ ३५—४०॥

'संन्यासी मुनि जहाँ सूर्यास्त हो जाय, वहीं सो रहे। न तो अग्नि रखे और न कोई घर ही बनाये। दैवेच्छासे जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीपर जीवन-निर्वाह करे। मन और इन्द्रियोंको सदा अपने वशमें रखे। जो संन्यासी घरसे निकलकर वनका आश्रय ले इन्द्रिय-संयमपूर्वक ज्ञानयज्ञका अनुष्ठान करता है और कालकी प्रतीक्षा करता हुआ विचरता रहता है, वह निश्चय ही ब्रह्मभावको प्राप्त करनेका अधिकारी होता है। जो मुनि सम्पूर्ण भूतोंको अभय-दान करके विचरता है, उसे भी किसी प्राणीसे कहीं भय उत्पन्न नहीं होता। जो मान और अहंकारका त्याग करके द्वन्द्वजनित

विकारसे रहित हो जाता है; जिसके मनके संदेह नष्ट हो जाते हैं; जो न तो किसीपर क्रोध करता, न किसीसे द्वेष रखता और न वाणीसे कभी असत्य ही बोलता है; जो पुण्य-स्थानोंमें विचरता, किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करता तथा समय प्राप्त होनेपर भिक्षासे जीवन-निर्वाह करता है, वह ब्रह्मभावको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। संन्यासी वानप्रस्थ और गृहस्थोंसे कभी संसर्ग न रखे। वह इस बातको चाहता रहे कि जिससे उसकी जीवनचर्या दूसरोंपर प्रकट न हो। संन्यासीमें हर्षका आवेश नहीं होना चाहिये। जैसे कीट सदा चलते रहते हैं, उसी प्रकार संन्यासी भी सूर्यके दिखाये हुए मार्गसे पृथिवीपर विचरता रहे अर्थात् रातको न चले'॥ ४१—४६॥

'कामनासे युक्त, हिंसासे युक्त तथा लोक-संग्रहसे युक्त जो-जो कर्म हैं, उनको संन्यासी न तो स्वयं करे और न दूसरोंसे ही कराये। असत् शास्त्रोंमें कभी आसक्त न हो। कोई जीविकाका साधनभूत कर्म करके जीवन-निर्वाह न करे। अनावश्यक बात करना और तर्क करना छोड़ दे। वादी और प्रतिवादीमेंसे किसीका पक्ष ग्रहण न करे। शिष्योंका संग्रह न करे। बहुत-से ग्रन्थोंका अभ्यास न करे तथा अपने पक्षकी सिद्धिके लिये खींचतानकी व्याख्याका उपयोग न करे। नये-नये आयोजन कभी न करे—सर्वथा निःसङ्कल्प होकर रहे। वह अपने आश्रमके चिह्नविशेष तथा अपने गूढ़ अभिप्रायको दूसरोंपर प्रकट न होने दे। मुनि होकर भी उन्मत्त और बालकोंकी भाँति चेष्टा करे। विद्वान् होते हुए भी मूककी भाँति रहे। मनुष्योंके समक्ष उन्हींकी दृष्टिके अनुसार अपनेको प्रदर्शित करे। वह न तो कुछ करे, न कुछ बोले और न भले अथवा बुरेका चिन्तन ही करे। अपने आत्मामें ही रमण करता रहे। संन्यासी मुनि इसी वृत्तिसे रहकर जडकी भाँति सर्वत्र विचरता रहे। इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए आसक्तिका सर्वथा त्याग करके वह अकेला ही इस पृथिवीपर भ्रमण करे। आत्मामें ही क्रीडा और आत्मामें ही रमण करनेवाला मनस्वी पुरुष सर्वत्र समान दृष्टि रखे। विद्वान् होकर भी बालककी भाँति क्रीडा करे। कार्यकुशल होकर भी मूर्खकी भाँति आचरण करे, उन्मत्तकी भाँति बात करे और वेदोंका विद्वान् होकर भी गौकी भाँति आचरण करे अर्थात् यह हो और यह न हो—इस बातके लिये कोई आग्रह न रखे। दुष्ट पुरुषोंके आक्षेप करने, अपमान करने, वञ्चना एवं दोषारोपण करनेपर भी सम रहे। उनके मारने, बाँध रखने या वृत्तिमें बाधा डालकर कष्ट पहुँचानेपर भी वह विचलित न हो। मूर्ख लोग शरीरपर या आसपास मल-मूत्रका त्याग कर दें अथवा और भी अनेक प्रकारके कष्ट देकर तंग करें तो भी कल्याणकामी पुरुष चुपचाप सहन करे। संकटमें पड़नेपर भी वह अपने आत्माके द्वारा अपना ही उद्धार करे। लोगोंसे मिला हुआ सम्मान योग-सम्पत्तिकी बड़ी भारी हानि करता है। साधारण लोगोंद्वारा अपमानित योगी योगसिद्धिको अवश्य प्राप्त कर लेता है। योगी पुरुष सत्पुरुषोंके धर्मको कलङ्कित न करते हुए अवश्य ही ऐसा आचरण करे, जिससे साधारण लोग उसका अपमान ही करें और उसके सम्पर्कमें न आवें। संन्यासी योगयुक्त होकर मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा जरायुज और अण्डज आदि किसी भी प्राणीके साथ द्रोह न करे तथा सब प्रकारकी आसक्तियोंको त्याग दे। काम, क्रोध, घमंड, लोभ और मोह आदि जितने भी दोष हैं, उनका परित्याग करके संन्यासी निर्भय हो जाता है'॥ ४७—५९॥

'भिक्षाका अन्न भोजन करना, मौन रहना, तपस्या करना, विशेषतः ध्यानमें लगे रहना, उत्तम ज्ञान प्राप्त करना और वैराग्यवान् होना—यह भिक्षुका धर्म माना गया है। गेरुआ वस्त्र पहनकर संन्यासी सदा ध्यानयोगमें तत्पर रहे। गाँवके किनारे, वृक्षके नीचे अथवा किसी देवालयमें निवास करे। वह नित्य भिक्षाके अन्नसे ही जीवननिर्वाह करे। किसी एकके अन्नका भोजन तो वह कभी न करे। बुद्धिमान् पुरुष प्रतिदिन अपने आश्रमोचित आचारका पालन करे और तबतक करता रहे जबतक अन्तःकरण पूर्णतः शुद्ध न हो जाय। अन्तःकरण शुद्ध हो जानेपर वह संन्यास लेकर जहाँ-कहीं भी स्वेच्छानुसार विचरण करे। संन्यासी बाहर और भीतर—सर्वत्र नारायणका दर्शन करते हुए वायुकी भाँति पाप-सम्पर्कसे रहित होकर मौनभावसे सब ओर विचरता रहे। वह सुख-दुःखमें समान भावसे रहे। मनमें क्षमा-भाव रखे। हाथपर जो कुछ आ जाय, उसीको भोजन करे। कहीं भी वैर न रखते हुए ब्राह्मण, गौ, घोड़े और मृग आदि सभी प्राणियोंमें समदृष्टि रखे। मन-ही-मन सबके ईश्वर सर्वव्यापी परमात्माका चिन्तन करते हुए 'मैं ही परमानन्दस्वरूप ब्रह्म हूँ' ऐसी भावना रखे। जो इस प्रकार जानकर, मनोमय दण्ड धारण करके, आशासे निवृत्त हो जाता है तथा दिगम्बर होकर सदा मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा समस्त संसारको त्यागकर, प्रपञ्चकी ओरसे मुँह मोड़कर भ्रमरका चिन्तन करनेवाले कीटकी भाँति सदा अपने स्वरूपके चिन्तनमें ही संलग्न रहता है, वह मुक्त हो जाता है। यह उपनिषद् है'॥ ६०—६६॥

॥ पञ्चम उपदेश समाप्त॥ ५॥

षष्ठ उपदेश

तुरीयातीत पद और उसकी प्राप्तिके उपाय तथा यतिकी जीवनचर्या

तदनन्तर नारदजीने ब्रह्माजीसे पूछा—'भगवन्! भ्रमर-कीट-न्यायसे अपने स्वरूपका अनुसन्धान करनेपर मोक्ष प्राप्त होता है—यह आपने बताया; किंतु उस स्वरूपानुसन्धानका अभ्यास कैसे हो?' तब ब्रह्माजीने नारदजीसे कहा—'सत्यवादी होकर ज्ञान और वैराग्यद्वारा इस शरीरकी आसक्तिको त्यागकर, शेष बचे हुए एक विशिष्ट शरीरमें स्थित होकर रहे॥ १॥

'ज्ञान ही वह शरीर है। वैराग्यको ही उसका प्राण समझो। शम और दम—ये दो नेत्र हैं। विशुद्ध मन मुख है, बुद्धि कला है; पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, पाँच विषय, चार अन्तःकरण तथा अव्यक्त प्रकृति—ये पचीस तत्त्व ही उस शरीरके अवयव हैं। समष्टिगत जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत—ये पाँच अवस्थाएँ ही उस विशिष्ट शरीरके पाँच महाभूत हैं। कर्म, भक्ति, ज्ञान और वैराग्य—ये शरीरकी शाखा अर्थात् भुजाएँ हैं अथवा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—ये चार अवस्थाएँ ही चार भुजाएँ हैं। पहले बताये हुए चौदह करण पङ्कमें स्थित कमजोर खंभोंके समान हैं। ऐसी स्थितिमें भी जैसे कीचड़में पड़ी हुई नावको भी अच्छा नाविक ढकेलकर उसे ठीक मार्गपर ला ही देता है, उसी प्रकार संसार-सिन्धुके पङ्कमें फँसी हुई इस जीवनरूपी नौकाको उत्तम बुद्धिके द्वारा वशमें रखकर पार लगाये—ठीक उसी तरह, जैसे हाथीवान् हाथीको अपने वशमें रखकर उसे ठीक रास्तेसे ले जाता है। ज्ञानमय विशिष्ट शरीरमें स्थित हुआ पुरुष 'मेरे अतिरिक्त जो कुछ भी है, वह सब कल्पित होनेके कारण नश्वर है'—यों समझकर सदा '**अहं ब्रह्मास्मि**' (मैं ब्रह्म ही हूँ) इस प्रकार उच्चारण करे। अपने आत्माके अतिरिक्त दूसरी कोई भी वस्तु ज्ञातव्य नहीं है, ऐसा निश्चय करके जीवन्मुक्त होकर रहे। इस प्रकार रहनेवाला पुरुष कृतकृत्य हो जाता है। व्यवहार-कालमें भी यों न कहे कि 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ।' अपितु निरन्तर 'मैं ब्रह्म हूँ' इस धारणाको ही पुष्ट करता रहे। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओंको पार करके तुरीयावस्थामें पहुँचकर संन्यासी तुरीयातीत परमात्मपदमें प्रवेश करे॥ २॥

'दिन जाग्रत्-अवस्था है, रात्रि स्वप्न है, अर्द्धरात्रि सुषुप्ति-स्थानीय है। ये तीनों अवस्थाएँ तुरीयमें हैं और तुरीयकी स्थिति तुरीयातीतमें है। इस प्रकार एककी अवस्थामें चार अवस्थाएँ हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार—इन चार अन्तःकरणोंमेंसे प्रत्येकके अधीन जो नेत्र आदि चौदह करण हैं, उनके व्यापार बतलाये जाते हैं। नेत्रोंका काम है रूपको ग्रहण करना, श्रोत्रोंका कार्य है शब्दकी उपलब्धि, जिह्वाका कार्य है रसास्वादन, गन्धका अनुभव घ्राणेन्द्रियका काम है, बोलनेकी क्रिया वाक्-इन्द्रियका व्यापार है, हाथोंका काम है किसी वस्तुको ग्रहण करना, पैरोंका कार्य है चलना, मल-त्याग गुदाका और विषयजनित आनन्दका अनुभव उपस्थका कार्य है। त्वचाका कार्य स्पर्शका अनुभव करना है। इनके अधीन विषय-ग्रहणकी बुद्धि है। बुद्धिसे जानता है। चित्तसे चेतना प्राप्त करता है। अहङ्कारसे अहंताका अनुभव करता है। इन सब भावोंकी विशेषरूपसे सृष्टि करके इनके समुदायरूपी शरीरमें आत्माभिमान करनेके कारण तुरीय-चेतन ही जीव हो जाता है। जैसे घरमें अभिमान करके मनुष्य गृहस्थ बनता है, उसी प्रकार शरीरमें अभिमान करके तुरीय-चेतन जीव होकर विचरता है। शरीरके भीतर जो अष्टदल कमलसे युक्त हृदय है, उसमें रहनेवाला जीव जब उक्त कमलके पूर्ववर्ती दलमें विचरता है, तब उसमें पुण्यानुष्ठानकी प्रवृत्ति होती है। आग्नेय कोणवाले दलमें जानेपर उसे निद्रा और आलस्य सताते हैं। दक्षिण दिशाके दलमें स्थित होनेपर उसमें क्रूरताका भाव आता है। नैर्ऋत्यकोणवाले दलका आश्रय लेनेपर उसमें पापबुद्धि जाग्रत् होती है। पश्चिम दलमें स्थिति होनेपर उसका क्रीडामें अनुराग होता है। वायव्यकोणके दलमें जानेपर उसकी बुद्धि गमनमें लगती है—वह इधर-उधर जानेका संकल्प करता है। उत्तर दिशावाले दलमें प्रवेश करनेपर उसे शान्तिका अनुभव होता है। ईशान-दलमें जानेपर ज्ञान होता है। उस कमलकी कर्णिकामें स्थित होनेपर उसके भीतर वैराग्यभाव जाग्रत् होता है तथा केसरोंमें स्थित होनेपर उसका मन आत्मचिन्तनमें लगता है। इस प्रकार चैतन्य ही जिसमें मुखकी भाँति प्रधान है, उस आत्मस्वरूपको जानकर विद्वान् पुरुष तुरीयातीत ब्रह्मरूपमें स्थित हो जाता है॥ ३॥

'जीवकी चार अवस्थाओंमें प्रथम अवस्था जाग्रत् है, दूसरी अवस्था स्वप्न है, तीसरी अवस्था सुषुप्ति है, चौथी

अवस्था तुरीय है तथा इन चारोंसे रहित तुरीयातीत है। एक ही आत्मा विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तटस्थ-भेदसे चार प्रकारका प्रतीत होता है। अतः 'एक ही परमात्मदेव सबके साक्षी एवं सत्त्वादि गुणोंसे रहित हैं और वह ब्रह्म मैं स्वयं हूँ' यों कहे। तुरीयातीत पुरुषको जाग्रत् आदि चारों अवस्थाओंके अनुभवसे परे मानना चाहिये। नहीं तो जैसे जाग्रत्-अवस्थामें जाग्रत् आदि चार अवस्थाएँ होती हैं, स्वप्नमें स्वप्नादि चार अवस्थाएँ होती हैं, सुषुप्तिमें सुषुप्ति आदि चार अवस्थाएँ होती हैं तथा तुरीयमें तुरीयादि चार अवस्थाएँ होती हैं, उसी प्रकार तुरीयातीतमें भी इन अवस्थाओंके होनेकी सम्भावना हो सकती है। किंतु वास्तवमें तुरीयातीत-तत्त्व निर्गुण है, अतः उसमें इस प्रकारके अवस्था-भेद सम्भव नहीं हैं। स्थूल, सूक्ष्म एवं कारणरूप जो विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ ईश्वर हैं, उनके साथ सब अवस्थाओंमें एक ही साक्षी स्थित होता है अथवा तटस्थ ईश्वर ही द्रष्टा हैं—यदि यों कहें तो ठीक नहीं; क्योंकि तटस्थ पुरुष बीजोपाधिक (मायोपाधिक) ईश्वररूपसे देखे जाते हैं। अतः उनका भी कोई द्रष्टा होनेके कारण तटस्थको द्रष्टा नहीं माना जा सकता। इसलिये वह द्रष्टा नहीं है, ऐसा ही निश्चय करना चाहिये। फिर तो जीवको ही द्रष्टा मान लिया जा सकता है। नहीं, जीव द्रष्टा नहीं हो सकता; क्योंकि वह कर्तृत्व, भोक्तृत्व और अहङ्कार आदिसे संयुक्त है। जीवसे इतर जो तुरीयातीत परमात्मा हैं, वे उक्त दोषोंके सम्पर्कसे रहित हैं। यदि कहें जीव भी तो स्वरूपतः शुद्ध चैतन्य ही है, अतः वह भी कर्तृत्व आदिके संस्पर्शसे रहित है तो यह ठीक नहीं। क्योंकि उसमें जीवत्वका अभिमान होनेसे इस शरीररूपी क्षेत्रमें भी उसका अभिमान है और शरीराभिमानके कारण ही उसमें जीवत्व है। परमात्मासे जीवत्वका व्यवधान वैसा ही है, जैसे महाकाशसे घटाकाशका। व्यवधानके कारण ही यह हंसस्वरूप जीव उच्छ्वास और निःश्वासके बहाने सदा '**सोऽहम्**' इस मन्त्रका जप करते हुए अपने स्वरूपका अनुसन्धान करता है। यों समझकर शरीरमें आत्माभिमान त्याग दे। जो शरीराभिमानी नहीं होता, वही ब्रह्म है, यह कहा जाता है। संन्यासी आसक्तिका त्याग करके क्रोधपर विजय प्राप्त करे, स्वल्पाहारी एवं जितेन्द्रिय हो तथा बुद्धिके द्वारा समस्त इन्द्रियद्वारोंको बंद करके मनको परमात्मचिन्तनमें लगाये। योगी सदा साधनमें संलग्न रहकर कहीं निर्जन स्थानोंमें, गुफाओं और वनोंमें बैठ जाय और भलीभाँति ध्यान आरम्भ करे। सिद्धिकी इच्छा रखनेवाला योगवेत्ता पुरुष अतिथि-सत्कार, श्राद्ध और यज्ञोंमें तथा देवयात्रा-सम्बन्धी उत्सवोंमें जहाँ अधिक जनसमुदाय एकत्र होता हो, कदापि न जाय। योगी पुरुष योगमें प्रवृत्त होकर ऐसा बर्ताव करे, जिससे दूसरे लोग उसका अनादर और तिरस्कार करें, परंतु वह सत्पुरुषोंके मार्गको कलङ्कित न करे। वाग्दण्ड, कर्मदण्ड और मनोदण्ड—ये तीन दण्ड सदा जिसके नियन्त्रणमें रहते हों, वह महासंन्यासी ही यथार्थ त्रिदण्डी है। जो यति धुआँ निकलना बंद हो जाने और अग्नि बुझ जानेपर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके घरसे मधुकरी लाकर उसका आहार करता है, वह सर्वश्रेष्ठ माना गया है। जो बिना अनुराग ही संन्यास-धर्ममें स्थित रहकर दण्डधारणपूर्वक भिक्षासे जीवन-निर्वाह करता है, किंतु जिसे संसारसे वैराग्य नहीं होता, वह संन्यासी नीच श्रेणीका माना गया है। जिस घरमें उसे विशेषरूपसे भिक्षा मिलती है, उसमें वासनावश पुनः भिक्षाके लिये जो नहीं जाता, वही वास्तविक यति माना गया है—इससे विपरीत आचरण करनेवाला नहीं। जो शरीर और इन्द्रिय आदिसे रहित, सर्वसाक्षी, पारमार्थिक, विज्ञानस्वरूप, सुखमय, स्वयम्प्रकाश एवं परमतत्त्वरूप परमात्माको अपने आत्मारूपसे जानता है, वही वर्ण और आश्रमसे अतीत यथार्थ संन्यासी है। देहमें वर्ण और आश्रम आदिकी कल्पना मायासे ही हुई है। 'मैं बोधस्वरूप आत्मा हूँ, मुझसे उन वर्ण और आश्रम आदिका किसी कालमें सम्बन्ध नहीं है'—इस प्रकार जो उपनिषदोंके अनुशीलनद्वारा भलीभाँति समझ लेता है, वही अतिवर्णाश्रमी (यथार्थ संन्यासी) है। अपने आत्माका साक्षात्कार कर लेनेके कारण जिसके वर्ण और आश्रमसम्बन्धी आचार छूट गये हैं, वह समस्त वर्णों और आश्रमोंसे ऊपर उठकर अपने आत्मामें ही स्थित है। जो पुरुष अपने आश्रमों और वर्णोंसे ऊपर उठकर आत्मामें ही स्थित है, उसीको सम्पूर्ण वेदार्थका ज्ञान रखनेवाले ज्ञानी पुरुषोंने अतिवर्णाश्रमी (यथार्थ संन्यासी) कहा है। इसलिये नारद! सभी वर्ण और आश्रम अन्यगत (शरीरगत) होनेपर भी भ्रान्तिवश आत्मामें आरोपित कर लिये जाते हैं; परंतु आत्मवेत्ता पुरुष ऐसा नहीं करते। नारद! ब्रह्मज्ञानी पुरुषोंके लिये न कोई विधि है न निषेध। उनके लिये अमुक वस्तु त्याज्य है और अमुक वस्तु त्याज्य नहीं है, इस तरहकी कल्पना नहीं होती और भी नियम उनपर लागू नहीं होते॥ ४—१९॥

'जिज्ञासुको चाहिये कि वह सम्पूर्ण भूतोंसे तथा ब्रह्मातकके पदसे भी विरक्त हो, सबमें, पुत्र और धन आदिमें भी प्रेम न रखते हुए मोक्षके साधनोंमें श्रद्धा करे

और उपनिषदोंका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे हाथमें कुछ भेंट लेकर ब्रह्मवेत्ता गुरुकी सेवामें जाय। वहाँ दीर्घकालतक अपनी सेवाओंसे गुरुको संतुष्ट रखते हुए चित्तको भलीभाँति एकाग्र करके ध्यानपूर्वक उपनिषद्-वाक्योंके अर्थका श्रवण करे। ममता और अहङ्कार त्याग दे। सब प्रकारकी आसक्तियोंसे पृथक् रहे तथा शम-दम आदि साधनोंसे सम्पन्न होकर अपनेमें ही आत्माका दर्शन करे। संसारमें सदा जन्म, मृत्यु और जरा आदि दोषोंका दर्शन करनेसे ही उसकी ओरसे विरक्ति होती है और जो संसारसे विरक्त हो गया है, उसीके द्वारा यथार्थरूपसे संन्यासग्रहण सम्भव होता है। इसमें तनिक भी संदेहके लिये स्थान नहीं है। मुक्तिकी इच्छा रखनेवाला परमहंस उपनिषदोंके श्रवण आदिके द्वारा साक्षात् मोक्षके एकमात्र साधन ब्रह्मविज्ञानका अभ्यास करे। परमहंस नामक यति ब्रह्मविज्ञानकी प्राप्तिके लिये शम-दम आदि सम्पूर्ण साधनोंसे सम्पन्न होवे। वेदान्तवेत्ता विद्वान् योगी सदा उपनिषदोंके अभ्यासमें तत्पर रहे। शम-दम आदिसे सम्पन्न हो मन और इन्द्रियोंको अपने वशमें कर ले। भयको त्याग दे। कहीं भी ममता न रखे। सदा निर्द्वन्द्व रहे। परिग्रहको सर्वथा त्याग दे। सिरके बालोंको मुँड़ा ले। पुराने वस्त्रका कौपीन पहने अथवा दिगम्बर रहे। मनमें ममता और अहङ्कारको कभी स्थान न दे। जो मित्र और शत्रु आदिमें समानभाव रखता है तथा सम्पूर्ण जीवोंके प्रति मैत्रीका भाव रखता है, जिसका अन्त:करण सर्वथा शान्त है, वह एकमात्र ज्ञानी पुरुष ही संसार-समुद्रसे पार होता है, दूसरा—अज्ञानी नहीं'॥ २०—२९॥

'जिज्ञासु पुरुष गुरुके हितमें तत्पर रहकर वहाँ एक वर्षतक निवास करे। नियमोंके पालनमें कभी प्रमाद न करे तथा ब्रह्मचर्य और अहिंसा आदि यमोंके पालनमें भी सतत सावधान रहे। इस प्रकार साधन करते हुए (गुरुकृपासे) वर्षके अन्तमें सर्वोत्तम ज्ञानयोगकी उपलब्धि करके धर्मानुकूल आचरण करते हुए इस पृथ्वीपर विचरण करे। ऊपर बताये अनुसार वर्षके अन्तमें सर्वोत्तम ज्ञानयोगकी प्राप्तिके अनन्तर ब्रह्मचर्य आदि तीनों आश्रमोंका त्याग करके अन्तिम आश्रम संन्यासको ग्रहण करे तथा गुरुकी आज्ञा लेकर इस पृथ्वीपर विचरण करे। वह आसक्तिको त्याग दे। क्रोधको काबूमें रखे। आहार स्वल्पमात्र करे और सदा जितेन्द्रिय बना रहे'॥ ३०—३३॥

'कर्म न करनेवाला गृहस्थ और कर्मपरायण भिक्षु—ये दोनों अपने आश्रमके विपरीत व्यवहार करनेके कारण कभी शोभा नहीं पाते। मनुष्य मदिराको तो पीनेपर मतवाला होता है, परंतु तरुणी स्त्रीको देखकर ही उन्मत्त हो उठता है। इसलिये दर्शनमात्रसे विषका-सा प्रभाव डालनेवाली नारीको संन्यासी दूरसे ही त्याग दे। स्त्रियोंके साथ बातचीत करना, उनके पास संदेश भेजना, नाचना, गाना, हास-परिहास करना तथा परायी निन्दा करना—संन्यासी इन सबका त्याग कर दे। नारद! यतिके लिये (नैमित्तिक) स्नान, जप, पूजा, होम तथा अग्निहोत्र आदि कार्य कर्तव्य नहीं हैं। उसके लिये देव-पूजन, श्राद्ध-तर्पण, तीर्थयात्रा, व्रत, धर्म-अधर्म तथा लोकाचारसम्बन्धी कार्य भी नहीं हैं। योगयुक्त संन्यासी सम्पूर्ण कर्मोंको त्याग दे, समस्त लोकाचारोंसे भी दूर रहे। विद्वान् यति अपनी बुद्धिको परमार्थमें लगाकर कृमि, कीट, पतङ्ग तथा वनस्पति आदि जीवोंकी कभी हिंसा न करे। वह सदा अन्तर्मुख रहे; बाहर और भीतरसे भी स्वच्छता रखे। अपने अन्त:करणको पूर्णत: शान्त बनाये रहे तथा बुद्धिको आत्मानन्दसे ही परिपूर्ण किये रहे। नारद! तुम भीतरसे सम्पूर्ण आसक्तियोंका परित्याग करके संसारमें विचरते रहो। संन्यासीको अकेले किसी ऐसे प्रदेशमें नहीं घूमना चाहिये, जहाँ अराजकता फैली हुई हो। संन्यासी स्तुति और नमस्कारसे दूर रहे। श्राद्ध और तर्पणसे भी अलग रहे। किसी शून्य भवनमें अथवा पर्वतकी गुफाओंमें आश्रय ले। संन्यासीको सदा स्वच्छन्दरूपसे विचरना चाहिये। यह उपनिषद् है'॥ ३४—४२॥

॥ षष्ठ उपदेश समाप्त॥ ६॥

सप्तम उपदेश

संन्यासीके सामान्य नियम और कुटीचक आदिके विशेष नियम

तदनन्तर नारदजीके यह पूछनेपर कि 'यतिका नियम कैसा होना चाहिये?' ब्रह्माजीने इस प्रश्नको सामने रखकर उत्तर देना आरम्भ किया। उन्होंने कहा, 'संन्यासी विरक्त होकर केवल वर्षाके चार महीनोंमें ही किसी निश्चित स्थानपर विश्राम करे। शेष आठ महीनोंमें एकाकी विचरण करे। कहीं एक स्थानपर अधिक दिनोंतक निवास न करे; क्योंकि

वैसा करनेसे पतनका भय है। भ्रमरोंकी भाँति एक स्थानपर न ठहरे। अपने अन्यत्र जानेका यदि कोई विरोध करे तो संन्यासी उस विरोधको स्वीकार न करे। अपने हाथों तैरकर नदी पार न करे। पेड़पर भी न चढ़े। देव-उत्सवके निमित्त होनेवाले मेलेको न देखे। सदा एक घरका भोजन और आत्माके अतिरिक्त बाह्य देवताओंका पूजन न करे। आत्माके अतिरिक्त सबका त्याग करके मधुकरी वृत्तिसे भिक्षा लाकर ग्रहण करे। शरीरको कृश बनाये रखे। मेदेकी वृद्धि न होने दे। घीको रुधिरके समान समझकर त्याग दे। एक घरके अन्नको मांसकी भाँति समझकर छोड़ दे। इत्र या चन्दन आदिके लेपको अशुद्ध मल-मूत्रादिके लेपकी भाँति मानकर उसका त्याग करे। क्षार (सोडा, साबुन आदि)-को चाण्डालके समान अस्पृश्य समझे। कौपीन आदिके अतिरिक्त अन्य वस्त्रोंको जूठे बर्तनके समान समझकर उन्हें त्याग दे। अभ्यङ्ग (तेल आदि मलने)-को स्त्रीके आलिङ्गनकी भाँति मानकर उससे दूर रहे। मित्रोंके आनन्ददायक सङ्गको मूत्रके समान त्याज्य समझे। किसी वस्तुकी प्राप्तिके लिये मनमें होनेवाली स्पृहाको अपने लिये गोमांसके समान वर्जनीय माने। परिचित स्थानको चाण्डालका बगीचा समझे। स्त्रीको सर्पिणीके समान भयङ्कर समझे। सुवर्णको कालकूट, सभा-स्थलको श्मशानभूमि, राजधानीको कुम्भीपाक नरक तथा एक स्थानके अन्नको मुर्देके लिये अर्पित पिण्डकी भाँति समझकर त्याग दे। देहको आत्मासे पृथक् देखना और प्रवृत्तिमें फँसना छोड़ दे। स्वदेशको त्याग दे और परिचित स्थानोंसे भी दूर रहे। अपनी आनन्दरूपताका निरन्तर चिन्तन करते हुए ऐसी प्रसन्नताका अनुभव करे मानो कोई भूली हुई बहुमूल्य वस्तु पुनः प्राप्त हो गयी हो। जहाँ जानेपर अपने शरीरमें ही आत्माभिमान जाग्रत् हो जाय, जिसमें अपने शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले लोग रहते हों, उस प्रदेशको सदाके लिये भूल जाय। अपने शरीरको भी मुर्देकी भाँति त्याज्य मानकर उसमें आसक्त न हो। जैसे जेलखानेसे छूटा हुआ चोर लज्जावश अपनी जन्मभूमिको न जाकर कहीं दूर जा बसता है, उसी प्रकार संन्यासी जहाँ उसके पुत्र और माता-पितादि गुरुजन रहते हों, उस स्थानको छोड़कर वहाँसे दूर ही रहे। बिना यत्न किये ही जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीका आहार करे। ब्रह्मस्वरूप प्रणवके चिन्तनमें तत्पर रहकर अन्य समस्त कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो जाय। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सरता आदिको जलाकर त्रिगुणातीत हो जाय। क्षुधा, पिपासा आदि छः प्रकारकी ऊर्मियोंसे प्रभावित न हो। जन्म, वृद्धि आदि छः प्रकारके भावविकारोंसे भी अपना सम्बन्ध न माने। सत्य बोले, शरीर और मनसे पवित्र रहे तथा किसीसे भी द्रोह न करे। गाँवमें एक रात, नगरमें पाँच रात, किसी पुण्यक्षेत्रमें पाँच रात तथा तीर्थमें भी पाँच रातसे अधिक न रहे। कहीं भी अपने लिये घर न बनाये। बुद्धिको परमात्मचिन्तनमें स्थिर रखे। झूठ कभी न बोले। पर्वतकी गुफाओंमें निवास करे। भ्रमणकालमें सदा अकेला ही रहे। (चौमासेके समय) दो व्यक्तियोंके साथ भी रह सकता है। तीनके साथ रहनेपर तो गाँव-सा ही बन जाता है; और चारके साथ वहाँ नगर-सा बस जाता है। अतः संन्यासी अकेला ही रहे। अपने चौदह करणों (इन्द्रियों)-को पृथक्-पृथक् विषयोंके चिन्तनका अवकाश न दे। अखण्ड बोधसे वैराग्य-सम्पत्तिका अनुभव करके 'मुझसे भिन्न दूसरा कोई नहीं है, मेरे सिवा दूसरेका अस्तित्व ही नहीं है'—ऐसा मन-ही- मन विचार करके सब ओर अपने स्वरूपका ही साक्षात्कार करता हुआ जीवन्मुक्त-अवस्थाको प्राप्त करे। जबतक प्रारब्धके प्रतिभासका नाश न हो जाय, प्रणव-चिन्तनपूर्वक ओत, अनुज्ञातृ आदि चार स्वरूपोंमें अभिव्यक्त होनेवाले तुरीय-तुरीयरूपमें स्थित अपने निर्विकल्प आत्माका सम्यक् बोध प्राप्त करे। स्वरूपका ज्ञान हो जानेपर जबतक यह शरीर गिर न जाय, तबतक स्वरूपका चिन्तन करते हुए ही काल-यापन करता रहे॥ १॥

'कुटीचकके लिये तीनों काल स्नानका विधान है। बहूदक सायं-प्रातः दो बार स्नान करे। हंसके लिये दिनमें एक बार ही स्नानका नियम है। परमहंस मानसिक स्नान करे। तुरीयातीतके लिये भस्मस्नान बताया गया है अर्थात् वह सारे शरीरमें केवल विभूति लगा ले तथा अवधूतके लिये वायव्य स्नान कहा गया है। अर्थात् शरीरमें वायुके स्पर्शमात्रसे ही वह शुद्ध हो जाता है, उसे जलसे स्नान करनेकी आवश्यकता नहीं है'॥ २॥

'कुटीचकके लिये ललाटमें ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक लगानेका विधान है। बहूदकके लिये त्रिपुण्ड्रका तथा हंसके लिये ऊर्ध्वपुण्ड्र, त्रिपुण्ड्र दोनोंकी विधि है। परमहंस केवल विभूति धारण करे। तुरीयातीतके लिये तिलकपुण्ड्र कहा गया है। अवधूतके लिये किसी प्रकारका तिलक आवश्यक नहीं है अथवा तुरीयातीत एवं अवधूत दोनोंके लिये ही तिलक अनावश्यक है'॥ ३॥

'कुटीचक दो महीनेपर बाल बनवाये; बहूदक चार महीनेपर। हंस और परमहंसके लिये बाल बनवानेका विधान नहीं है। यदि है भी तो छः महीनेपर। तुरीयातीत और अवधूतके लिये तो क्षौरका नियम है ही नहीं'॥ ४॥

'कुटीचकके लिये एक स्थानका अन्न खानेकी विधि है। बहूदकको मधुकरीका अन्न खाना चाहिये। हंस और परमहंसके लिये हाथ ही पात्र है; उसपर जो कुछ आ जाय, उतना ही खाकर सन्तोष करे। तुरीयातीतके लिये गो-मुखवृत्ति है अर्थात् उसके मुखमें दूसरा कोई जो कुछ फल-फूल देना चाहे, उसे वह गायकी भाँति मुँह फैलाकर ले ले। अवधूतके लिये अजगर-वृत्ति है अर्थात् दैवेच्छा या परेच्छासे कभी जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, उसीपर वह संतोष करे'॥ ५॥

'कुटीचकके लिये दो वस्त्र रखनेका विधान है। बहूदकके लिये एक चादर और हंसके लिये वस्त्रका एक टुकड़ा रखनेका नियम है। परमहंस दिगम्बर रहे अथवा एक कौपीनमात्र धारण करे। तुरीयातीत और अवधूतको तो दिगम्बर ही रहना चाहिये। हंस और परमहंसके लिये ही मृगचर्म रखनेका विधान है, अन्य संन्यासियोंके लिये नहीं'॥ ६॥

'कुटीचक और बहूदकके लिये प्रत्यक्ष देवपूजनका विधान है। हंस और परमहंस केवल मानसिक पूजन कर सकते हैं। तुरीयातीत और अवधूत केवल '**सोऽहमस्मि**' (वह ब्रह्म मैं ही हूँ) यही भावना करें'॥ ७॥

''कुटीचक और बहूदकका मन्त्र-जपमें अधिकार है। हंस और परमहंस केवल ध्यानके अधिकारी हैं। तुरीयातीत और अवधूतका स्वरूपानुसन्धानके सिवा और किसी कार्यमें अधिकार नहीं है। तुरीयातीत, अवधूत और परमहंस—इन तीनोंको ही '**तत्त्वमसि**' आदि महावाक्योंके उपदेशका अधिकार प्राप्त है। कुटीचक, बहूदक और हंस—ये तीनों दूसरोंके लिये उपदेश देनेके अधिकारी नहीं हैं''॥ ८॥

'कुटीचक और बहूदकके लिये मानुषप्रणव अर्थात् बाह्यप्रणवके चिन्तनका विधान है। हंस और परमहंसको अन्तःप्रणवका तथा तुरीयातीत और अवधूतको ब्रह्मरूप प्रणवका चिन्तन करना चाहिये'॥ ९॥

'कुटीचक और बहूदकका प्रमुख साधन है—श्रवण। हंस और परमहंसका प्रमुख साधन है मनन तथा तुरीयातीत और अवधूतका प्रमुख साधन है निदिध्यासन। आत्मानुसन्धानकी इन सभीके लिये विधि है'॥ १०॥

'इस प्रकार मुक्तिकी इच्छा रखनेवाला संन्यासी सदा संसार-सागरसे पार उतारनेवाले तारकमन्त्र (प्रणव)-का चिन्तन करते हुए जीवन्मुक्त होकर रहे। वह अधिकारविशेषके अनुसार कैवल्य-प्राप्तिके उपायका अन्वेषण करे। यह उपनिषद् है'॥ ११॥

॥ सप्तम उपदेश समाप्त॥ ७॥

अष्टम उपदेश

प्रणवके स्वरूपका विवेचन

तत्पश्चात् नारदजीने भगवान् ब्रह्माजीसे पूछा—'भगवन्! जन्म-मृत्युसे तारनेवाला मन्त्र कौन-सा है? मैं आपकी शरणमें हूँ, बतानेकी कृपा करें।' ब्रह्माजीने 'तथास्तु' कहकर इस प्रकार उपदेश आरम्भ किया—वत्स! ॐ यही तारक-मन्त्र है। यह ब्रह्मस्वरूप है। व्यष्टि और समष्टि दोनों प्रकारसे इसीका चिन्तन करना चाहिये।' नारदजीने पूछा—'भगवन्! व्यष्टि और समष्टि क्या है?' ब्रह्माजीने कहा—'व्यष्टि और समष्टि ब्रह्म-प्रणवके अङ्ग हैं। एक ही ब्रह्म-प्रणवके तीन भेद माने जाते हैं—एक संहार[1]-प्रणव, दूसरा सृष्टि[2]-प्रणव और तीसरा उभयात्मक प्रणव। उभयात्मक प्रणवके आन्तर और बाह्य—दो स्वरूप हैं। इसीलिये उसे उभयात्मक कहते हैं। अन्तः-प्रणवका स्वरूप आगे बतलायेंगे। उपर्युक्त ब्रह्म[3]-प्रणवका एक भेद

---

१. अर्द्धमात्रा, अकार और उकार जिसके अङ्ग हैं, ऐसा मकारमात्रा-प्रधान 'संहार-प्रणव' होता है। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र इसके अधिष्ठाता हैं। अतः यह मात्रात्रयप्रधान माना गया है, जैसा कि कहा गया है—

त्रिमात्राकलनोपेतसंहारप्रणवासनाः । ब्रह्मविष्ण्वीश्वरा विश्वसर्गस्थित्यन्तहेतवः॥
भवेयुर्यत एवायं संहारप्रणवो भवेत्॥

२. उकार, मकार और अर्धमात्राको अङ्ग बनाकर अकारमात्रकी प्रधानतासे बोला जानेवाला प्रणव 'सृष्टि-प्रणव' कहलाता है। इसके अधिष्ठाता देवता ब्रह्माजी हैं; अतः यह एकमात्राप्रधान है। जैसा कि वचन है—

एकमात्रात्मकं तारमुपादाय चतुर्मुखः। यतः ससर्ज सकलं सृष्टितारो ह्यतो भवेत्॥

३. उपर्युक्त संहार और सृष्टि-प्रणवके अतिरिक्त एक अन्तर्बाह्योभयस्वरूप प्रणव और होनेसे 'ब्रह्म-प्रणव' तीन प्रकारका होता है।

व्यावहारिक[१] प्रणव है। व्यष्टि-प्रणवका ही दूसरा नाम बाह्य[२]-प्रणव है। इन सबके अतिरिक्त एक आर्षप्रणव[३] भी है। अन्तर्-बाह्य—उभयस्वरूप जो ब्रह्म-प्रणव है, वही विराट्प्रणवके[४] नामसे कहा गया है। संहार-प्रणव ब्रह्मादिसे अधिष्ठित होनेके कारण ही ब्रह्म-प्रणव माना गया है। स्थूल आदि भेदसे युक्त अकारादि चार मात्राएँ जिसका स्वरूप हैं, उस मात्राचतुष्टयात्मक प्रणवका नाम अर्द्धमात्रो[५]-प्रणव है'॥ १॥

अब अन्त:प्रणवका स्वरूप बतलाते हैं। ॐ यह ब्रह्म है। 'ॐ' इस एकाक्षर मन्त्रको अन्त:प्रणव समझो। यह आठ भागोंमें विभक्त होता है। अकार, उकार, मकार, अर्द्धमात्रा, बिन्दु, नाद, कला और शक्ति—ये ही उसके आठ भाग हैं। यह प्रणव केवल चार ही मात्राओंसे युक्त नहीं है; उसकी एक-एक मात्रा भी अनेकानेक भेदोंसे सम्पन्न है। केवल अकार ही दस हजार अवयवोंसे सम्पन्न है। उकारके एक सहस्र और मकारके एक सौ अवयव हैं। इसी प्रकार अर्द्धमात्रा-प्रणवका स्वरूप अनन्त अवयवोंसे युक्त है। विराट्-प्रणव सगुणरूप है, संहार-प्रणव निर्गुणरूप है और सृष्टि-प्रणव उभयात्मक है—वह सगुण-निर्गुण उभयरूप है। जैसे विराट्-प्रणव प्लुत अर्थात् अकार आदि चार मात्राओंकी समष्टिसे युक्त है, उसी प्रकार संहार-प्रणव प्लुत-प्लुत अर्थात् चतुर्थमात्रात्मक अर्द्धमात्रास्वरूप है॥ २॥

विराट्-प्रणव अर्थात् विराट्स्वरूप ब्रह्म-प्रणव सोलह मात्राओंका है। यह छत्तीस[६] तत्त्वोंसे परे है। वह षोडश मात्रारूप कैसे है, यह बताते हैं। अकार पहली मात्रा है, उकार दूसरी, मकार तीसरी, अर्द्धमात्रा चौथी, बिन्दु पाँचवीं, नाद छठी, कला सातवीं, कलातीता आठवीं, शान्ति नवीं, शान्त्यतीता दसवीं, उन्मनी ग्यारहवीं, मनोन्मनी बारहवीं, पुरी (वैखरी) तेरहवीं, मध्यमा चौदहवीं, पश्यन्ती पंद्रहवीं और परा सोलहवीं मात्रा है। यह सोलह मात्राओंवाला ब्रह्म-प्रणव ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्परूप चतुर्विध तुरीयसे अभिन्न होनेके कारण पुन: चौंसठ मात्राओंवाला होता है। यही प्रकृति

संहार-प्रणवकी तीन मात्राएँ, सृष्टि-प्रणवकी एक मात्रा, अन्त:प्रणवकी आठ मात्राएँ तथा बाह्यप्रणवकी चार मात्राएँ—ये सब मिलकर सोलह होती हैं। इन सोलह मात्राओंसे विशिष्ट प्रणवको 'ब्रह्म-प्रणव' कहा जाता है। यद्यपि यह एक ही है, तथापि दृष्टिभेदसे अनेक भेदवाला हो जाता है।

१-जिसके गर्भमें (वर्णमालाके) पचास अक्षर छिपे हुए हैं, उस 'अकार' की प्रधानताको लेकर व्यवहृत होनेवाला प्रणव व्यावहारिक प्रणव कहलाता है। 'अकारो वै सर्वा वाक् सैषा स्पर्शोष्मभि: व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति' (अकार ही समस्त वाणी है। यह अकार-मात्रा ही स्पर्श और ऊष्मा आदि वर्णोंके रूपमें व्यक्त होकर बहुत-सी होता है, अनेक रूपोंमें दिखायी देती है)—इस श्रुतिके अनुसार अकार ही समस्त वर्णोंका मूल है। पचास वर्णोंसे विभूषित एकमात्राप्रधान यह प्रणव है। वैखरी वाणीका, जिसके द्वारा मानवमात्र व्यवहार करते हैं, हेतु होनेसे इस प्रणवको 'व्यावहारिक' कहा गया है। दुर्गा आदि तथा इच्छा आदि तीन शक्तियोंसे यह युक्त है। वसुगण, रुद्रगण और आदित्यगण इसके अङ्ग हैं। नौ ब्रह्मा एवं पाँच ब्रह्मा इसके अधिष्ठाता देवता हैं। जैसा कि कहा गया है—

एकमात्रात्मकस्तार: पञ्चाशद्वर्णभूषित:। वैखरीकलनाहेतुर्व्यावहारिक ईरित:॥
दुर्गादिशक्तित्रितयं तथेच्छादित्रिशक्तिकम्। वस्वादित्यरुद्रजातं नवब्रह्माधिदैवतम्॥
तथा पञ्चब्रह्मदैवं तद्वाच्यार्थ इतीरित:।

२-विराट्-प्रणव समष्टिरूप है; इससे बाह्य व्यष्टि-प्रणव है, उसकी चार मात्राएँ हैं। उसीको 'बाह्य-प्रणव' कहते हैं। विश्व या वैश्वानर ही इसका अधिष्ठाता है। कहा भी है—

व्यष्टे: समष्टिबाह्यत्वात्तूलातुर्यांशयोगत: । बाह्यप्रणव आम्नातो विश्वाद्या वाच्यतां गता:॥

३-अकार, उकार, मकार, बिन्दु, नाद, कला और कलातीतरूपसे ऋषिमण्डलीद्वारा उपास्यमान सप्तमात्रात्मक प्रणवका नाम 'आर्षप्रणव' है। पञ्चब्रह्मा, विराट् और अन्तर्यामी इसके अधिष्ठाता हैं। कहा भी है—

सप्तमात्रात्मक: पञ्चब्रह्मान्तर्याम्यधिष्ठित:। ऋषिमण्डलसेव्यत्वादार्षप्रणव उच्यते॥

४-आर्ष-प्रणवके अतिरिक्त एक स्थिति-प्रणव भी होता है; यह अकार-उकार—उभयमात्रारूप है। ब्रह्मा और विष्णु इसके अधिष्ठाता हैं। समष्टि अकार आदि मात्राचतुष्टयात्मक प्रणवको 'विराट्-प्रणव' कहते हैं। 'विराट्' आदि इसके अधिष्ठाता हैं। जैसा कि कहा है—

चतु:समष्टिमात्रायुग् विराट्प्रणव उच्यते। विराडादिर्भवेद्वाच्यं तल्लक्ष्यं परमाक्षरम्॥

५-स्थूल, सूक्ष्म, कारण और साक्षी—इन चारकी मात्राओंसे युक्त 'अर्धमात्रा-प्रणव' होता है। ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्परूप परमात्मा ही इसके अधिष्ठाता हैं।

६-पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, पाँच शब्दादि विषय, चार अन्त:करण, पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्राएँ, महत्तत्त्व और अव्यक्त प्रकृति—ये छत्तीस तत्त्व हैं।

और पुरुषरूपसे पुनः दो भेदोंको प्राप्त होकर एक सौ अट्ठाईस मात्राओंवाला स्वरूप धारण करता है। इस प्रकार एक होकर भी ब्रह्म-प्रणव दृष्टिभेदसे अनेकविध सगुण और निर्गुण स्वरूपको प्राप्त होता है॥ ३॥

(ॐकारको ब्रह्मस्वरूप बताया गया है। वह परब्रह्म परमात्मा कैसा है, यह बताते हैं।) ये ब्रह्म-प्रणवरूप परमात्मा सबके आधारभूत तथा परम ज्योतिःस्वरूप हैं। ये ही सबके ईश्वर और सर्वत्र व्यापक हैं। सम्पूर्ण देवता इन्हींके स्वरूप हैं। समस्त प्रपञ्चका आधार—प्रकृति भी इन्हींके गर्भमें है। ये सर्वाक्षरमय हैं—वर्णमालाके पचास वर्ण और उनके द्वारा बोध्य अर्थ, सब इनके स्वरूप ही हैं। ये कालस्वरूप, समस्त शास्त्रमय तथा कल्याणरूप हैं। समस्त श्रुतियोंमें श्रेष्ठ तत्त्व पुरुषोत्तमरूपसे इनका ही अनुसन्धान करना चाहिये। समस्त उपनिषदोंके मुख्य अर्थ ये ही हैं। इन्हींमें उपनिषदें गतार्थ होती हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य—इन तीनों कालोंमें होनेवाला जो जगत् है तथा इन तीनों लोकोंसे परे जो कोई अविनाशी तत्त्व है, वह सब ॐकारस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही है—यह जानो। श्रेष्ठ नारद! ॐकारको ही मोक्षदायक समझो। प्रणवके वाच्यार्थभूत परमात्मा ही यह आत्मा हैं। '**अयमात्मा ब्रह्म**' (यह आत्मा ब्रह्म है)—इस श्रुतिद्वारा 'ब्रह्म' शब्दसे उन्हींका वर्णन हुआ है। ब्रह्मकी आत्माके साथ ॐकारके वाच्यार्थरूपसे एकता करके वह एकमात्र (अद्वितीय), जरारहित (मृत्युरहित) एवं अमृतस्वरूप चिन्मय तत्त्व ॐ है—इस प्रकार अनुभव करो। इस अनुभवके पश्चात् उस परमात्मस्वरूप ॐकारमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों शरीरोंवाले इस सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चका आरोप करके—अर्थात् एक परमात्मा ही सत्य हैं, उन्हींमें इस स्थूल, सूक्ष्म और कारण-जगत्की कल्पना हुई है—विवेकद्वारा ऐसा अनुभव करके यह निश्चय करे कि यह जगत् ॐ (सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा) ही है तथा तन्मय (परमात्ममय) होनेके कारण यह अवश्य तत्स्वरूप (परमात्मरूप) ही है। इस प्रकार जगत्को 'ॐ' समझो अर्थात् इसे 'ॐ' के वाच्यार्थभूत परमात्मामें विलीन कर डालो तथा त्रिविध शरीरवाले अपने आत्माको भी 'यह त्रिविध शरीररूप उपाधिसे युक्त ब्रह्म ही है' ऐसी भावना करते हुए ब्रह्मरूप ही निश्चय करो। इस तरह आत्मा और परब्रह्मकी एकताका दृढ़ निश्चय हो जानेपर आत्मस्वरूप परब्रह्मका निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये। अब क्रमशः विश्व, तैजस आदिके वाचक प्रणवकी मात्राओंका क्रम बताया जाता है।

'स्थूल (विराट् जगत्स्वरूप) एवं स्थूल जगत्का भोक्ता होनेसे, सूक्ष्म (सूक्ष्म जगत्स्वरूप) एवं सूक्ष्म जगत्का भोक्ता होनेके कारण, एकमात्र आनन्दस्वरूप एवं आनन्दमात्रका उपभोक्ता होनेसे तथा इन तीनोंकी अपेक्षा भी विलक्षण होनेके कारण वह आत्मा चार भेदोंवाला है। ये चार भेद ही उसके चार पाद हैं, अतः वह चार पादोंवाला है। जाग्रत्-अवस्था तथा इसके द्वारा उपलक्षित होनेवाला यह सम्पूर्ण जगत् ही जिनका स्थान अर्थात् शरीर है—जो सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हो रहे हैं, जिनका ज्ञान इस स्थूल (बाह्य) जगत्में सब ओर फैला हुआ है, जो इस समस्त विश्वके भोक्ता (रक्षक) हैं; पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा चार अन्तःकरण—ये उन्नीस समष्टिकरण ही जिनके मुख हैं; पाताल, भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्—ये आठ लोक ही जिनके आठ अङ्ग हैं; जो स्थूल जगत्के उपभोक्ता हैं; स्थूल, सूक्ष्म, कारण और साक्षी—इन चार स्वरूपोंमें जिनकी अभिव्यक्ति होती है; वे स्थूल विश्वमें सर्वत्र व्यापक एवं अखिल विश्वरूप वैश्वानर पुरुष ही विश्वविजेता प्रभुके प्रथम पाद हैं।

'स्वप्नावस्था और उसके द्वारा उपलक्षित सूक्ष्म जगत्में व्याप्त परमात्मा सूक्ष्मप्रज्ञ हैं—उनका विज्ञान बाह्य जगत्की अपेक्षा आन्तरिक अर्थात् सूक्ष्म जगत्में व्याप्त है। स्वतः वे पूर्वोक्तरूपसे आठ अङ्गोंवाले हैं। काम-क्रोधादि शत्रुओंको तपानेवाले नारद! वे स्वप्नलोकमें एकमात्र ही हैं, उनके सिवा दूसरा नहीं है। (उनके भी पूर्ववत् उन्नीस ही मुख हैं।) वे सूक्ष्म जगत्के सूक्ष्म तत्त्वोंका अनुभव और पालन करनेवाले हैं। उनके भी पूर्ववत् स्थूल-सूक्ष्म आदि भेदसे चार स्वरूप हैं। उन्हें तैजस पुरुष कहते हैं; क्योंकि वे तेजोमय एवं प्रकाशके स्वामी हैं। वे समस्त भूतोंके स्वामी हिरण्यगर्भ हैं। पूर्वोक्त वैश्वानर तो स्थूल हैं और हिरण्यगर्भ अन्तःप्रदेशमें स्थित होनेके कारण सूक्ष्म बताये गये हैं। इन्हें परमात्माका द्वितीय पाद बताया जाता है'॥ ४—१३॥

'जिस अवस्थामें सोया हुआ पुरुष किसी भी भोगकी कामना नहीं करता, कोई भी स्वप्न नहीं देखता, वह स्पष्ट ही सुषुप्ति है। ऐसी सुषुप्ति तथा उसके द्वारा उपलक्षित सम्पूर्ण जगत्की प्रलयावस्था (जब कि सम्पूर्ण विश्व अपने कारणमें विलीन हो जाता है) जिनका स्थान (शरीर) है अर्थात् समष्टि कारण-तत्त्वमें जिनकी स्थिति है, जो एकीभूत (अद्वितीय) हैं—जिनकी अभी नाना रूपोंमें अभिव्यक्ति नहीं हुई है, जो घनीभूत प्रज्ञानसे परिपूर्ण हैं, सुखी अर्थात्

आनन्दस्वरूप हैं, नित्यानन्दमय हैं, सब जीवोंके भीतर स्थित अन्तर्यामी आत्मा हैं तथा अपने स्वरूपभूत आनन्दमात्रका उपभोग करनेवाले हैं, चिन्मय प्रकाश ही जिनका मुख है, जो सर्वत्र व्यापक एवं अविनाशी हैं; ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प—इन चार स्वरूपोंमें जिनकी अभिव्यक्ति होती है; वे प्राज्ञनामसे प्रसिद्ध ईश्वर ही परब्रह्म परमात्माके तृतीय पाद हैं'॥ १४—१६॥

'इस प्रकार तीनों पादोंके रूपमें वर्णित ये परमात्मा सबके ईश्वर हैं। ये सर्वज्ञ हैं। ये सूक्ष्मरूपसे भावना (ध्यान) करनेयोग्य परमेश्वर ही अन्तर्यामी आत्मा हैं। ये सम्पूर्ण विश्वके कारण हैं तथा सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके स्थान भी ये ही हैं। जाग्रत् आदि तीनों ही अवस्थाओंमें लक्षित होनेवाला यह जगत् भी वास्तवमें सुषुप्तरूप ही है। यह सब प्रकारकी उपरतिमें बाधक बना रहता है। (सुषुप्तरूप इसलिये है कि इससे मोहित हुए मनुष्योंको कभी किसी वस्तुका तात्त्विक ज्ञान नहीं होता।) इसी प्रकार यह त्रिविध जगत् स्वप्नवत् भी है; क्योंकि यहाँ वस्तुका प्रायः विपरीत ही ज्ञान होता है। इतना ही नहीं, कुछ-का-कुछ प्रतीत होनेके कारण यहाँ सब कुछ मायामात्र ही है।

'उक्त तीनों पादोंके अतिरिक्त जो चौथा तुरीय पाद है, वह ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प—इन चार भेदोंके कारण चार रूपवाला है। तुरीयरूपमें स्थित ये परमात्मा एकमात्र सच्चिदानन्दरूप हैं। ओत आदि चार भेदोंमें स्थित होनेपर भी चतुर्थ पाद 'तुरीय' ही कहलाता है, उसके चारों भेद तुरीय नामसे ही प्रतिपादित होते हैं; क्योंकि प्रत्येक रूपका तुरीयमें ही पर्यवसान—लय होता है। इस तुरीय पादमें भी जो ओत, अनुज्ञातृ और अनुज्ञारूप तीन भेद हैं, वे विकल्प-ज्ञानके साधन हैं; अतः इन तीन विकल्पों (भेदों)-को भी यहाँ पूर्ववत् सुषुप्ति एवं मनोमय स्वप्नके समान तथा मायामात्र ही समझना चाहिये। यों जानकर यह निश्चय करना चाहिये कि इन विकल्पोंसे परे जो निर्विकल्परूप तुरीय-तुरीय परमात्मा हैं, वे एकमात्र सच्चिदानन्दरूप ही हैं'*॥ १७—२०॥

'मुने! इसके अनन्तर श्रुतिका यह स्पष्ट उपदेश है—जो सदा ही न तो स्थूलको जानता है, न सूक्ष्मको ही जानता है और न दोनोंको ही जानता है; जो न तो अधिक जाननेवाला है न नहीं जाननेवाला है, न अन्तःप्रज्ञ है न बहिःप्रज्ञ (न भीतरका ज्ञान रखनेवाला है न बाहरका); तथा जो प्रज्ञानका घनीभूत स्वरूप भी नहीं है; जिसे नेत्रोंद्वारा नहीं देखा गया; जिसका कोई लक्षण नहीं है; जो कभी पकड़में नहीं आ सकता, व्यवहारमें नहीं लाया जा सकता; जिसका चिन्तन नहीं हो सकता; जिसे किसी परिभाषामें नहीं बाँधा जा सकता; एकमात्र आत्मसत्ताकी प्रतीति ही जिसका सार अथवा स्वरूप है; जिसमें प्रपञ्चका सर्वथा अभाव है—ऐसा परम कल्याणमय शान्त, अद्वितीय तत्त्व ही उन पूर्ण ब्रह्म परमात्माका चतुर्थ पाद है—यह ज्ञानी महात्मा मानते हैं। वही ब्रह्म-प्रणव है। वही जाननेयोग्य है, दूसरा नहीं। सर्वप्रकाशक सूर्यकी भाँति वही मुमुक्षुजनोंका जीवनाधार है। स्वयम्प्रकाश ब्रह्म परम आकाशरूप है। परब्रह्म होनेके कारण ही वह सदा सर्वत्र विराजमान है। यह उपनिषद्का गूढ़ रहस्य है'॥ २१—२३॥

॥ अष्टम उपदेश समाप्त ॥ ८ ॥

नवम उपदेश

ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन; आत्मवेत्ता संन्यासीके लक्षण

तदनन्तर नारदजीने पूछा—'भगवन्! ब्रह्मका स्वरूप कैसा है?' तब ब्रह्माजीने उनसे कहा—'वत्स! ब्रह्म और क्या है, अपना स्वरूप ही तो है (यह आत्मा ब्रह्म ही है—सब कुछ ब्रह्म ही है, ब्रह्मके सिवा कुछ नहीं है)। ब्रह्म दूसरा है और मैं दूसरा हूँ—इस प्रकार जो लोग जानते हैं, वे पशु हैं; जो स्वभावसे पशुयोनिमें उत्पन्न हैं, केवल उन्हींका नाम पशु नहीं है। उन परब्रह्म परमात्माको इस प्रकार सर्वात्मा और सर्वरूपमें जानकर विद्वान् पुरुष मृत्युके मुखसे सदाके लिये छूट जाता है। परमात्मज्ञानके सिवा दूसरा कोई मार्ग मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला नहीं है'॥ १॥

(ब्रह्मविषयक चर्चा करनेवाले कुछ जिज्ञासु आपसमें कहते हैं—) 'क्या काल, स्वभाव, निश्चित फल देनेवाला कर्म, आकस्मिक घटना, पाँचों महाभूत या जीवात्मा (जगत्का) कारण है? इसपर विचार करना चाहिये। इन

* इस प्रसङ्गको स्पष्ट समझनेके लिये नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्का प्रथम खण्ड और वहाँ दी हुई टिप्पणियोंको ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये।

काल आदिका समुदाय भी इस जगत्का कारण नहीं हो सकता; क्योंकि वे चेतन आत्माके अधीन हैं (जड होनेके कारण स्वतन्त्र नहीं हैं)। जीवात्मा भी इस जगत्का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह सुख-दु:खोंके हेतुभूत प्रारब्धके अधीन है। इस प्रकार विचार करके उन्होंने ध्यानयोगमें स्थित होकर अपने गुणोंसे ढकी हुई उन परमात्मदेवकी स्वरूपभूत अचिन्त्यशक्तिका साक्षात्कार किया, जो परमात्मदेव अकेले ही उन कालसे लेकर आत्मातक (पहले बताये हुए) सम्पूर्ण कारणोंपर शासन करते हैं। उस एक नेमिवाले, तीन घेरोंवाले, सोलह सिरोंवाले, पचास अरोंवाले, बीस सहायक अरोंसे तथा छ: अष्टकोंसे युक्त, अनेक रूपोंवाले एक ही पाशसे युक्त, मार्गके तीन भेदोंवाले तथा दो निमित्त और मोहरूपी एक नाभिवाले चक्रको उन्होंने देखा। पाँच स्रोतोंसे आनेवाले विषयरूप जलसे युक्त, पाँच स्थानोंसे उत्पन्न होकर भयानक और टेढ़ी-मेढ़ी चालसे चलनेवाली, पाँच प्राणरूप तरङ्गोंवाली, पाँच प्रकारके ज्ञानके आदिकारण मनरूप मूलवाली, पाँच भँवरोंवाली, पाँच दु:खरूप प्रवाहके वेगसे युक्त, पाँच पर्वोंवाली और पचास भेदोंवाली नदीको हमलोग जानते हैं। सबकी जीविकारूप, सबके आश्रयभूत इस विस्तृत ब्रह्मचक्रमें जीवात्मा घुमाया जाता है। वह अपने-आपको और सबके प्रेरक परमात्माको अलग-अलग जानकर उसके बाद उन परमात्मासे स्वीकृत होकर अमृतभावको प्राप्त हो जाता है। ये वेदवर्णित परब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ आश्रय और अविनाशी हैं। उनमें तीनों लोक स्थित हैं। वेदके तत्त्वको जाननेवाले महापुरुष यहाँ (हृदयमें) अन्तर्यामीरूपसे स्थित उन ब्रह्मको जानकर उन्हींके परायण हो उन परब्रह्म परमात्मामें ही लीन हो गये। विनाशशील जडवर्ग एवं अविनाशी जीवात्मा—इन दोनोंके संयुक्त रूप व्यक्त और अव्यक्तस्वरूप इस विश्वका परमेश्वर ही धारण और पोषण करते हैं तथा जीवात्मा—इस जगत्के विषयोंका भोक्ता बना रहनेके कारण प्रकृतिके अधीन हो इसमें बँध जाता है और उन परमदेव परमेश्वरको जानकर सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। सर्वज्ञ और अज्ञानी, सर्वसमर्थ और असमर्थ—ये दो अजन्मा आत्मा हैं तथा भोगनेवाले जीवात्माके लिये उपयुक्त भोग्यसामग्रीसे युक्त अनादि प्रकृति एक तीसरी शक्ति है। (इन तीनोंमें जो ईश्वरतत्त्व है, वह शेष दोसे विलक्षण है; क्योंकि) वे परमात्मा अनन्त, सम्पूर्ण रूपोंवाले और कर्तापनके अभिमानसे रहित हैं। जब मनुष्य इस प्रकार ईश्वर, जीव और प्रकृति—इन तीनोंको ब्रह्मरूपमें प्राप्त कर लेता है, तब वह सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। प्रकृति तो विनाशशील है और इसको भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है। इन विनाशशील जडतत्त्व और चेतन आत्मा दोनोंको एक ईश्वर अपने शासनमें रखते हैं; (इस प्रकार जानकर) उनका निरन्तर ध्यान करनेसे, मनको उन्हींमें लगाये रहनेसे तथा तन्मय हो जानेसे मनुष्य अन्तमें उन्हें प्राप्त कर लेता है; फिर तो समस्त मायाकी निवृत्ति हो जाती है। उन परमदेवका निरन्तर ध्यान करनेसे उन प्रकाशमय परमात्माको जानकर मनुष्य समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है; क्योंकि क्लेशोंका नाश हो जानेके कारण जन्म-मृत्युका सर्वथा अभाव हो जाता है। (अत: वह) शरीरका नाश होनेपर तीसरे लोक (स्वर्ग)-तकके समस्त ऐश्वर्यका त्याग करके सर्वथा विशुद्ध एवं पूर्णकाम हो जाता है। अपने ही भीतर स्थित इन ब्रह्मको सदा ही जानना चाहिये। इनसे बढ़कर जाननेयोग्य तत्त्व दूसरा कुछ भी नहीं है। भोक्ता (जीवात्मा), भोग्य (जडवर्ग) और उनके प्रेरक परमेश्वर—इन तीनोंको जानकर मनुष्य सब कुछ जान लेता है। इस प्रकार इन तीन भेदोंमें बताया हुआ यह सब कुछ ब्रह्म ही है। आत्मविद्या और तपस्या ही जिसकी प्राप्तिके मूल साधन हैं, वह उपनिषद्वर्णित परमतत्त्व ही ब्रह्म है। (दृष्टिभेदसे वह द्विविध या त्रिविध बताया जाता है; परंतु वास्तवमें भेद-दृष्टि अज्ञानमूलक है, अत: सब रूपोंमें वह एक ही ब्रह्म विराजमान है)॥ २—१३॥

जो इस प्रकार जानकर निरन्तर अपने स्वरूपभूत ब्रह्मका ही चिन्तन करता है, उस एकत्वदर्शी ज्ञानीको वहाँ क्या शोक है और क्या मोह। इसलिये भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालोंमें प्रकट होनेवाला यह विराट् जगत् अविनाशी ब्रह्मस्वरूप ही है। यह सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म और महान्से भी परम महान् परमात्मा इस जीवकी हृदयरूपी गुहामें स्थित है। सबकी सृष्टि एवं रक्षा करनेवाले परमात्माकी कृपासे जो मनुष्य उस संकल्परहित परमेश्वरको तथा उसकी महिमाको भी देख लेता है, वह सब प्रकारके दु:खोंसे रहित हो जाता है। वह परमात्मा हाथ-पैरोंसे रहित होकर भी सब वस्तुओंको ग्रहण करनेवाला तथा वेगपूर्वक सर्वत्र गमन करनेवाला है। आँखोंके बिना ही वह सब कुछ देखता है। कानोंके बिना ही वह सब कुछ सुनता है। वह जाननेमें आनेवाली सभी वस्तुओंको जानता है; परंतु उसको जाननेवाला कोई नहीं है। ज्ञानी पुरुष उसे पुरातन महान् पुरुष (पुरुषोत्तम) कहते हैं। वह इन अनित्य शरीरोंमें नित्य एवं शरीररहित

होकर स्थित है; उन सर्वव्यापी महान् परमात्माको जान लेनेपर धीर पुरुष कभी शोक नहीं करता। वह सबका धारण-पोषण करनेवाला है, उसकी अघटित-घटना-पटीयसी शक्ति अचिन्त्य है, सम्पूर्ण शास्त्रोंके सिद्धान्तरूपसे स्वीकृत अर्थविशेष—परमात्माके रूपमें वही जाननेयोग्य है। परात्पर परब्रह्मरूपमें भी वही ज्ञातव्य है तथा सबके अवसानमें अर्थात् सम्पूर्ण जगत्का प्रलय होनेपर सबके संहारकरूपमें भी उसीको जानना चाहिये। वह कवि (त्रिकालज्ञ), पुराण-पुरुष तथा सबसे उत्तम पुरुषोत्तम है। वही सबका ईश्वर तथा सम्पूर्ण देवताओंद्वारा उपासना करनेयोग्य है। वह आदि, मध्य और अन्तसे रहित है, उसका कभी विनाश नहीं होता। वही शिव, विष्णु तथा कमलजन्मा ब्रह्मारूपी वृक्षोंको प्रकट करनेवाला महान् भूधर (पर्वत) है। जो पञ्चभूतात्मक है तथा पाँच इन्द्रियोंमें विद्यमान रहता है, जिसने अनन्त जन्मोंके विस्तारकी परम्पराको बढ़ा रखा है, उस सम्पूर्ण प्रपञ्चको उस परमात्माने पञ्चभूतोंके रूपोंमें प्रकट किये हुए अपने ही अवयवोंद्वारा स्वयं ही व्याप्त कर रखा है; फिर भी वह स्वयं इन पञ्चभूतात्मक अवयवोंसे आवृत नहीं है। वह परसे भी पर और महान्से भी महान् है। वह स्वरूपत: स्वत: प्रकाशमय, सनातन एवं कल्याणरूप है। जो दुराचारसे निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ अशान्त हैं—वशमें नहीं हैं, जो एकाग्रचित्त नहीं हुआ है तथा जिसका मन पूर्णत: शान्त नहीं हो पाया है, वह इस परमात्माको उत्तम ज्ञानद्वारा नहीं पा सकता (उसके भीतर आत्मज्ञानका उदय होगा ही नहीं)। वह पूर्ण ब्रह्म न भीतर जानता है, न बाहर जानता है, न बाहर-भीतर—दोनोंको ही जानता है; वह न स्थूल है न सूक्ष्म है; न वह ज्ञानरूप है, न अज्ञानरूप है, वह पकड़में आनेवाला तथा व्यवहारका विषय नहीं है। वह अपने भीतर स्वयं ही स्थित है। जो इस प्रकार जानता है, वह मुक्त हो जाता है, वह मुक्त हो जाता है—इस प्रकार भगवान् ब्रह्माजीने उपदेश दिया॥ १४—२२॥

अपने स्वरूपको जाननेवाला संन्यासी अकेला ही विचरता है। वह भयभीत मृगकी भाँति कभी एक स्थानपर नहीं ठहरता। अन्यत्र जानेका यदि कोई विरोध (अथवा न जानेका अनुरोध) करता है तो उसे वह स्वीकार नहीं करता। अपने शरीरके सिवा अन्य सब वस्तुओंको त्यागकर वह मधुकरी-वृत्तिसे भिक्षा ग्रहण करता है। सदा अपने स्वरूपका ही चिन्तन करते हुए उसकी सबके प्रति अनन्य बुद्धि हो जाती है—वह सबको अपना आत्मा ही समझता है तथा इस प्रकार अपने-आपमें ही स्थित रहनेवाला वह यति सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। वह परिव्राजक सम्पूर्ण क्रियाओं और कारकोंसे भेद-बुद्धि त्याग देता है। गुरु (शास्ता), शिष्य और शास्त्र आदिकी त्रिपुटीसे भी वह मुक्त हो जाता है। समस्त संसारको त्यागकर वह कभी उसके दु:खसे मोहित नहीं होता। परिव्राजक कैसा हो? वह लौकिक धनसे रहित होनेपर ही सुखी होता है। वह ब्रह्मात्मज्ञानरूप धनसे सम्पन्न हो ज्ञान-अज्ञान दोनोंसे ऊपर उठ जाता है। सुख-दु:ख दोनोंके पार पहुँच जाता है। वह आत्मज्योतिसे ही प्रकाश ग्रहण करता है। सब ज्ञातव्य पदार्थ उसे ज्ञात हो जाते हैं। वह सर्वज्ञ, सब सिद्धियोंका दाता और सर्वेश्वर हो जाता है। क्योंकि '**सोऽहम्**' (वह ब्रह्म मैं हूँ)—इस महावाक्यके उपदेशमें उसकी सहज स्थिति हो जाती है। वह परब्रह्म ही भगवान् विष्णुका परमधाम है; जहाँ जाकर योगी पुरुष वहाँसे इस संसारमें नहीं लौटते। वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है और न चन्द्रमा ही प्रकाश फैलाता है। उस परम पदको प्राप्त होनेवाला वह महात्मा इस संसारमें नहीं लौटता, इस संसारमें नहीं लौटता। वही कैवल्यपद है। इतना ही यह उपनिषद् है॥ २३॥

॥ नवम उपदेश समाप्त॥ ९॥

॥ अथर्ववेदीय नारदपरिव्राजकोपनिषद् समाप्त॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!